राष्ट्र और राज्य

राष्ट्र और राज्य

जैनेन्द्रकुमार

पूर्वोदय प्रकाशन, दिल्ली

राष्ट्र और राज्य

जैनेन्द्रकुमार

पूर्वोदय प्रकाशन, दिल्ली

प्रकाशक सूर्योदय प्रकाशन
८ नेताजी सुभाष मार्ग दिल्ली ६
प्रथम संस्करण १९६५
मूल्य तीन रुपये
मुद्रक प्रताप प्रिंटिंग प्रेस ८००/१२ सब्जी मण्डी दिल्ली।

राष्ट्र

और

राज्य

युद्ध के उपकरणों का निर्माण आज विज्ञान का सबसे महत्त्व का निर्माण है। क्या यह सब व्यर्थ है? नहीं, तो सार्थकता के लिए युद्ध को होना ही चाहिए। युद्ध की सम्भवता जुड़ी है आधार में राष्ट्र (राज्य) की सत्ता के साथ। विश्व में विज्ञान की अधुनातम उपलब्धियाँ भी रहें और उसकी व्यवस्था के मूल में राष्ट्र राज्य-सत्ता भी ज्यों की त्यों रहे तो युद्ध टल सकता है, कट नहीं सकता। अणुशक्ति के उदय के बाद यदि युद्ध की सम्भावना जड़मूल से कटे तभी मानव के लिए भवितव्यता शेष बचती है, अन्यथा प्रलय की भीषिका उसे उबरने न देगी।

इसी दृष्टि से राष्ट्र राज्य पर प्रस्तुत लेख में कुछ विचार का प्रयत्न किया गया है। तत्काल के सन्दर्भ में, प्रकाशकों को आशा है कि लेख उपयोगी हो सकेगा। इसलिए अलग पुस्तिका के रूप में यह यहाँ प्रस्तुत है।

जैनेन्द्र कुमार

१ १ ६५

राज्य

राज्य के बारे में आज सोचने की आवश्यकता है कि जीवन में उसकी जगह क्या हो? मानना होगा कि सभ्यता के विकास के साथ राज्य बड़े होते गए हैं। पहले कोई विजेता फौज खड़ी करके बढ़ जाता था और काफी बड़ा इलाका अपने काबू में कर लेता था। लेकिन यह राज्य और साम्राज्य बहुत सवाल पैदा नहीं करता था। कारण साफ था कि वह ताकत की हुकूमत पर खड़ा है। उसके केन्द्र में एक आदमी होता था जिसका आतंक चलता था और उसको मानवोत्तर मान दिया जाता था। यहां से कुछ पीढ़ियां तक हुआ तो फिर उत्तराधिकार भी चल जाता था। अब केन्द्र में व्यक्ति नहीं है और माना जाता है कि तलवार की नंगी ताकत भी नहीं है। अब नागरिक प्रशासन है और हुकूमत व्यवस्था है। इस स्थिति तक आकर अनिवार्य रूप में यह प्रश्न उठ रहा

वितरण का एक बहुत बड़ा व्यापार खड़ा हो गया है। उसी के साथ दूसरी तरह की भी मशीनें हैं। वे तेज और प्रचुर उत्पादन के काम में आती हैं। जिनके पास वे बड़ी मशीनें हों और उनका शिल्प-कौशल हो वे बड़े परिमाण में माल बनाकर दूसरे अल्प-या अविकसित देशों को निर्यात कर सकते हैं और उनको कम से कम अर्थनीतिक प्रभाव के अधीन ला सकते हैं। ऐसे विज्ञान मानव जाति को एकत्रित रूप में सुख सुविधा प्रदान करने से अधिक आपसी होड़ बढ़ाने के काम आ रहा है। और जो अणुशक्ति रेगिस्तान को नखलिस्तान में बदल सकती थी, मनुष्य के बड़े-बड़े सपना को जो साकार कर सकती थी वह घातक बमों के बनाने के ही काम आ रही है। सोचना होगा कि मानव जाति की व्यवस्था में विकास के इस बिन्दु तक आकर क्या फेर-फार होना आवश्यक है कि जिससे हमारा बढ़ा हुआ ज्ञान विज्ञान हमें खतरे की ओर न ले जाय बल्कि सुख और श्रेयस की उपलब्धि की ओर बढ़ाये।

हमारी मिल-जुलकर रहने की प्रवृत्ति उत्तरोत्तर विकास पाती गई और हमारी समाज-व्यवस्था राष्ट्र की व्यापकता तक आ गई। यह तो शुभ ही था। मधुर मरने को आज यदि भारतीय अनुभव करता है तो इससे वह व्यापक ही बनता है। भारतीय राष्ट्र के नाते आज हम चालीस करोड़ आदमी आपस में आत्मीय और बन्धु बन जाते हैं। किन्तु यह धारणा जब अपने में बन्द और निरा अभिमान सा जाती है, जब वह भौगोलिक और राजनीतिक सीमाओं में घिर जाती है, तो मानो

हुआ है कि विकास के क्रम के साथ राज्य को अब किस ओर बढ़ना है।

इस समय हम राष्ट्र राज्य तक आ गए हैं। किन्तु विज्ञान की प्रगति के साथ देखा यह जा रहा है कि दुनिया छोटी बन रही है देश अलग अलग स्वायत्त नहीं रह सकते हैं। उनमें आवा-जाही बढ रही है और आपसी लेन देन द्रुत और सघन बन रहा है। राष्ट्रों के लिए अन्तर्राष्ट्रीयता का प्रश्न प्रमुख हो गया है। हर स्वदेश के लिए विदेश-नीति का प्रश्न सबसे प्रधान होता जा रहा है। इस आवश्यकता को देखते हुए पहले लीग आफ नेशन्स बना था अब यूनाइटेड नेशन्स है। लेकिन इन अन्तर्राष्ट्रीय प्रतीकों और संघों के बावजूद राष्ट्र राज्यों की प्रभुसत्ता अखण्ड बनी रही है और जब ये अन्तर्राष्ट्रीय सभाएं देशों के आपसी सम्बन्धों पर कुछ अधिक नियमन नहीं ला पाती हैं। देशों के पास आज के दिन अपने अपने अणु शस्त्र हैं और वे एक दूसरे के खिलाफ काम आ सकते हैं। विश्व विचार के हाथ में निर्णय नहीं है, उन अणु शस्त्रों के काम आने न आने के बारे में निर्णय राष्ट्रसत्ताओं के पास है। संक्षेप में और मूल में व्यावहारिक सत्ता राष्ट्र राज्य में निहित है और युद्ध होगा कि न होगा यह उनकी मति-गति पर निर्भर करता है।

विज्ञान की प्रगति के साथ शस्त्रास्त्र नये-नये किस्म के बन रहे हैं। मालूम होता है कि क्या छोटे क्या बड़े सभी देशों को उनकी जरूरत है। इस तरह उनके निर्माण का और

वितरण का एक बहुत बड़ा व्यापार खड़ा हो गया है। उसी के साथ दूसरी तरह की भी मशीनें हैं। वे तेज और प्रचुर उत्पादन के काम में आती हैं। जिनके पास वे बड़ी मशीनें हों और उनका शिल्प-कौशल हो, वे बड़े परिमाण में माल बनाकर दूसरे अर्ध-या अविकसित देशों को निर्यात कर सकते हैं और उनको कम से कम अर्थनीतिक प्रभाव के आधीन ला सकते हैं। ऐसे विज्ञान मानव जाति को एक मिल रूप में सुख सुविधा प्रदान करने में अधिक आपसी होड़ बढ़ाने के काम आ रहा है। और जो अणुशक्ति रेगिस्तान को नखलिस्तान में बदल सकती थी, मनुष्य के बड़े-बड़े सपनों को जो साकार कर सकती थी वह घातक बमों के बनाने के ही काम आ रही है। सोचना होगा कि मानव जाति की व्यवस्था में विकास के इस बिन्दु तक आकर क्या फेर फार होना आवश्यक है कि जिससे हमारा बढ़ा हुआ ज्ञान विज्ञान हमें खतरे की ओर न ले जाय बल्कि सुख और श्रेयस की उपलब्धि की ओर बढ़ाये।

हमारी मित्र गुनकर रहने की प्रवृत्ति उत्तरोत्तर विकास पाती गई और हमारी समाज-व्यवस्था राष्ट्र की व्यापकता तक आ गई। यह तो शुभ हुआ था। अमुक अपने को आज यदि भारतीय अनुभव करता है तो उसमें वह व्यापक ही बनता है। भारतीय राष्ट्र के सहारे मानो हम चालीस करोड़ आदमी आपस में आत्मीय और बन्धु बन जाते हैं। किन्तु यह धारणा जब अपने में बन्द और निर्णायक मान ली जाती है, जब वह भौगोलिक और राजनीतिक रेखाओं से घिर जाती है, तो मानो

हुआ है कि विकास के क्रम के साथ राज्य को अब किस ओर बढना है।

इस समय हम राष्ट्र राज्य तक आ गए हैं। किन्तु विज्ञान की प्रगति के साथ देखा यह जा रहा है कि दुनिया छोटी बन रही है, देश अलग अलग स्वायत्त नही रह सकते हैं। उनमे आवा-जाही बढ़ रही है और आपसी लेन देन द्रुत और सघन बन रहा है। राष्ट्रो के लिए अन्तर्राष्ट्रीयता का प्रश्न प्रमुख हो गया है। हर स्वदेश के लिए विदेश-नीति का प्रश्न सबसे प्रधान होता जा रहा है। इस आवश्यकता को देखते हुए पहले लीग आफ नेशन्स बनी थी, अब यूनाइटेड नेशन्स है। लेकिन इन अन्तर्राष्ट्रीय प्रतीको और सघो के बावजूद राष्ट्र राज्यों की प्रभुसत्ता अखण्ड बनी रही है और उस से ये अन्तर्राष्ट्रीय सभाएं देशों के आपसी सम्बन्धो पर कुछ अधिक नियमन नहीं ला पाती हैं। देशो के पास आज के दिन अपने अपने अणु शस्त्र हैं और वे एक दूसरे के खिलाफ काम आ सकते हैं। विश्व विचार के हाथ में निर्णय नही है उन अणु शस्त्रो के काम आने न आने के बारे में निर्णय राष्ट्रसत्ताओ के पास है। सक्षेप मे और मूल मे व्यावहारिक सत्ता राष्ट्र राज्य मे निहित है और युद्ध होगा कि न होगा यह उनकी मति-गति पर निर्भर करता है।

विज्ञान की प्रगति के साथ शस्त्रास्त्र नये-नये किस्म के बन रहे हैं। मालूम होता है कि क्या छोटे क्या बडे, सभी देशों को उनकी जरूरत है। इस तरह उनके निर्माण का और

वितरण का एक बहुत बड़ा व्यापार खड़ा हो गया है। उसी के साथ दूसरी तरह की भी मशीनें हैं। वे तेज और प्रचुर उत्पादन के काम में आती हैं। जिनके पास वे बड़ी मशीनें हों और उनका शिल्प-कौशल हो, वे बड़े परिमाण में माल बनाकर दूसरे अर्ध-या अविकसित देशों को निर्यात कर सकते हैं और उनको कम से कम अर्थनैतिक प्रभाव के आधीन ला सकते हैं। ऐसे विज्ञान मानव जाति को एकत्रित रूप में सुख-सुविधा प्रदान करने से अधिक आपसी होड़ बढ़ाने के काम आ रहा है। और जो अणुशक्ति रेगिस्तान को नखलिस्तान में बदल सकती थी, मनुष्य के बड़े-बड़े सपनों को जो साकार कर सकती थी वह घातक बमों के बनाने के ही काम आ रही है। सोचना होगा कि मानव जाति की व्यवस्था में विकास के इस बिन्दु तक आकर क्या फेर-फार होना आवश्यक है कि जिससे हमारा बढ़ा हुआ ज्ञान विज्ञान हम खतरे की ओर न ले जाय बल्कि सुख और श्रेयस की उपलब्धि की ओर बढ़ाये।

हमारी मिल जुलकर रहने की प्रवृत्ति उत्तरोत्तर विकास पाती गई और हमारी समाज-व्यवस्था राष्ट्र की व्यापकता तक आ गई। यह तो शुभ ही था। अमुक अपने को आज यदि भारतीय अनुभव करता है तो इससे वह व्यापक ही बनता है। भारतीय नाम के सहारे मानो हम चालीस करोड़ आदमी आपस में आत्मीय और बन्धु बन जाते हैं। किन्तु यह धारणा जब अपने में बन्द और निरा र मान ली जाती है, जब वह भौगोलिक और राजनीतिक रेखाओं में घिर जाती है तो मानो

स्वदेश की एकता के लिए विदेश की स्पर्धा अथवा शत्रुता का सहारा आवश्यक होने लगता है। स्वदेश के बन्धुओं का आपसी मित्रता मानो विदेश के प्रति शत्रुता को साथक करने तक टिकती है अन्यथा वह बन्धुता और मित्रता स्खलित होने लग जाती है राष्ट्रीयता की जगह प्रान्तीयता और प्रादेशिकता उभरने लग जाती है। मिलाने जुटाने वाली शक्ति तब केवल नकारात्मक रह जाती है और बिखरने बिखराने वाली शक्ति ऊपर आ जाती है। तब देश अन्दरूनी प्रतिस्पर्धा से आक्रान्त होने लगता है सरकार ढीली होती और अपने को सिर्फ कानून के डंडे के जोर से बचाने को मजबूर होती है। लोक विश्वास की पूंजी उसके पास उतनी रह नही जाती है और जोरो-जब्र से उसे काम लेना होता है। नागरिक के विरोध म सैनिक शक्ति तुल आती है और तन्त्र लोकतन्त्र की जगह मानो दण्डतन्त्र बनने लग जाता है।

इस पद्धति से राज्य के पास रहने वाली सैन्य शक्ति केवल देश विदेश की सीमा की सुरक्षा के ही काम नही आती ह बल्कि खुद घर मे उसके लिए काम पदा होने लग जाता है। सैन्य सत्ता को ऐसी परिस्थिति मे बेहद मजबूत करने की आवश्यकता होती ह। अव्वल तो पडोसी देश के मुकाबले सैन्य बल किसी का उन्नीस रह जाए इसी म सकट की सम्भावना देखी जाती ह। फिर अगर आन्तरिक मामलो म उसके उपयोग की आवश्यकता होने लग जाय तब तो सकट दुगुना हो जाता ह। इस प्रकार देश का अर्थ रचना नागरिक से हटकर फौजी होने लग जाता ह। एक सिविल लों हुआ

करता है दूसरा माशल लॉ। इसी तरह एक सिविल व्यवस्था होती है, दूसरी माशल व्यवस्था। माशल व्यवस्था में जन हित पीछे पड जाता है, समझा-जाने-वाला राष्ट्रहित उसकी छाती पर ऊपर आ जाता है। मानो नागरिक के ऊपर सैनिक आ बैठता है और श्रमिक का श्रम केवल इसलिए रह जाता है कि वह शासक और सैनिक को बहाल रखे। अनुत्पादक और व्यवस्थापक कामों का बोझ उत्पादक वर्गों पर बहुत अधिक पडने लग जाता है। करों से प्राप्त हुई राशि प्रभूत हो जाती है और इस बडी चढ़ी राशि के हाथ में सारा कम व्यापार आ जाता है। इस व्यवस्था में व्यक्ति का अभिक्रम घुटने लग जाता है और नीति तब की बागडोर शासन-सत्ता के हाथ में आ जाती है। इस व्यवस्था को चाहे तो ऊपर से जनतन्त्र कह सकते हैं लेकिन जन उसमें साधन से अधिक नहीं रहता। और चाहे सिंहासन पर राजा न हो यह जबडा हुआ राजतन्त्र जमा हो जाता है। राजा जन्म से ही नहीं होता चुनाव में भी हो सकता है। बल्कि चुनाव से उसका रूप धारतर तब हो सकता है।

इस समय राज्य का एक रूप तो निश्चित और स्पष्ट है। साम्यवादी राज्य सर्वहारा के नाम पर खुला अधिनायक राज्य है। वहां दम एक दम है और वह परिवेष्टित है। यद्यपि देखा जा रहा है कि व्यक्ति-पथ के नाम पर एक के बाद एक आदमी उस शक्ति के शीर्ष पर से गिर रहा है, लेकिन फिर भी नीचे से चिनी जाने वाली रचना ऐसी स्तूपाकार है, कि शक्ति के शीर्ष पर दो का रहना नहीं बन सकता, एक ही

का होना पडता ह । साम्यवाद का यह प्रत्यक्ष रूप ह, यद्यपि उसका एकशास्त्रीय परोक्ष रूप भी ह । उस शास्त्रीय रूप म, जो सवथा परोक्ष बन गया ह कल्पना ह कि राज्य रहेगा नही असगत होकर झर जायगा। दूसरे श दा म उसको आवश्यकता समाज म समा जाएगी और यवस्था वाहरी किसी त त्र से नही चलगी वल्कि समाज म अन्तभू त प्रकृत नियमा के आधार पर चलेगी और वही समीचीन और पर्याप्त होगी। स्पष्टत वह सवथा असनिक व्यवस्था होगी न वह किसी को चुनौती देगी न किसी क टक्कर मे आयेगी। साम्यवादी शास्त्र का यह विधान चाहे व्यवहार मे कितना भी झुठलाया जाता हो अन्त म राज्य विचार के लिए एक उपयोगी निर्देश देता ह।

दूसरा प्रचलित रूप ह लोकत त्र । दा ही तो पक्ष है आज जिनमे दुनिया वटी मानी जाती ह। अधिनायक त त्र और लोकत त्र। लोकतन्त्र का कोई एक मूलभूत प्रामाणिक शास्त्र नही ह। वह तो एक उगती हुई व्यवस्था ह जिसके विविध प्रयोग है। चुनाव की पद्धति या तो अधिनायक व्यवस्थाओ म भी ह किन्तु वहा राय अधिकांश नि यानव प्रतिशत से कम नही आती। एक प्रतिशत भी सम्भावना के लिए छोडा जा रहा ह, नही तो अन्तर दशमलव एक प्रतिशत का रहा करता ह। चुनाव की विविध विधियों से लोकतत्र के रूपो म भी थोडा वहुत अतर रहता ह। किन्तु सव म चुने हुए अधिकार की अवधि हुआ करती ह अवधि के वाद पहले व्यक्ति को रखन या हटान का अधिकार मतदाता के हाथ मे आ रहता ह।

चौन्ह

यह है लोकतन्त्र। इसमें मत स्वतन्त्र है इसलिए माना जा सकता है कि मतदाता स्वतन्त्र है। किन्तु बात ऐसी है नहीं। कुछ विवशताएं हैं जो परिस्थिति में भर दी जाती हैं और मत स्वतन्त्र रहते हुए भी विवश हो जाता है। जो सुविधा है लोकतन्त्र में, और जो उसकी विशेषता मानी जाती है वह यह कि बहुमत से शासन पर आने वाले दल के मुकाबले एक विरोधी दल भी हुआ करता है। इस दूसरे विरोधी दल को अनिवार्य माना जाता है जनतन्त्र के लिए, और समझा जाता है कि उसकी उपस्थिति के कारण शासक-दल मर्यादा में रहेगा और उसके लिए अनिवार्य होगा कि वह जनमन को राजी रखे। अन्यथा उस शासन को गिरना होगा और बहुमत अल्पमत में आ जायगा।

सच यह है कि जन प्रधान व्यवस्था से भी अंत में आशा यही है, यद्यपि अभी तक वह शास्त्रबद्ध नहीं हो सकी है, कि राज्य अन्त में जन-जन के पास पहुंच जाएगा और अलग लवाजमे के रूप में उसकी आवश्यकता नहीं रह जायगी। जन-जीवन का यथावश्यक नियमन अन्तर्व्याप्त वृत्तियों के अनुसार सहज परस्परता में से होता जायगा। ऐसे राज्य को सत्य-संरक्षित रहने की आवश्यकता नहीं होगी।

अधिकांश लोकतन्त्रों में समाजरचना की जो धारणा आज अमल में आ रही है उसे समाजवादी माना जाता है। भारतीय कांग्रेस ने समाजवादी संरचना की घोषणा की है।

यहां स्वीकार करना चाहिए कि धारणा की कुछ अजब हालत

है। साम्यवादी देश सब मिलाकर अपने को समाजवादी कहते हैं। साम्यवाद के कट्टर विरोधी देश भी जाहिर करते हैं कि हम अपने यहां समाज वादी रचना चाहते हैं।

शब्दों के उपयोग की इस अवस्था म चर्चा को परिणाम तक ले जाना कुछ कठिन हो जाता है। इसीलिए राजनीतिक भाषा अविश्वसनीय समझी जाती है। उस भाषा मे इसीलिए आए रोज नई नई तरकीब बनी दीखती हैं। सोशलिज्म शब्द की देश या राष्ट्र स कोई सगति नही समझी जाती थी। नारा था—वर्कस आफ द वल्ड यूनाइट। अथात सचाई मे वकस ही एक हैं नेशनल्स एक नही हैं। दोनो इन धारणाओ म विसगति और विरोध तक माना जाता था। लेकिन नेशनल सोशलिज्म जसी चीज भी बन आई इसी तरह सोशल नेशनलिस्ट' भी मिल जायेंगे। सोशलिज्म म समाज की प्रधानता है डिमाक्रेसी म जन-स्वातन्त्र्य की। दोनो कल्पनाओ की दिशा अलग है। लेकिन भारतीय कांग्रेस का सकल्प डिमोक्रेटिक सोशलिज्म है दूसरी जगह आपको सोशल डिमोक्रेट मिल जाते हैं। राजनीतिक शब्दावली इस तरह बडी लचकदार हुआ करती है। आज जो दो शब्द विग्रह म ठने है, कल वही सधि म सधे नही बल्कि समास म सयुक्त दीखत हैं। उस शब्दावली क सहार बात की तह तक पहुँचना इसलिये आसान नही होता। राजनेता परिस्थिति के साथ रहता है इसलिए यथाथ म वह शब्दों का जोड तोड कर लिया करता है। कठिनाई उन सामान्य जनो की होती है जो शब्दो को खेल की चीज नही मानत, बल्कि उनके साथ भावनाओ को जोडन लग जाते हैं। शब्दो पर पक्ष खडे

हुए हैं और दोनों ओर से यहाँ तक कि कभी लोगों का खून कर दिया गया है। पर अन्त में देखा गया है कि उन दोनों शब्दों ने आपस में अनायास संधि कर ली है। इसलिये राजनीति नहीं टिकती साहित्य टिक जाता है। कारण, साहित्य पहले से ही चेता देता है कि शब्द में से सच न लेना केवल सूचना लेना। जबकि राजनीति शब्दों को नारा के तौर पर ऊंचा उठाकर उनके प्रति आवेश उभारती और बलिदान मांगा करती है। स्वयं राजनेता शब्द में नशा नहीं होता केवल अमुक शब्दों के द्वारा जनता को हांकने का वह अपना हक मानता है।

तो साम्यवादी और समाजवादी, नेतावादी और जनवादी राज्य हैं और उनमें थोड़ा बहुत अन्तर भी है। प्रेसीडेंट है कहीं फर्स्ट सेक्रेटरी, कहीं प्राइम मिनिस्टर और कहीं कहीं राजा भी अभी तक वर्तमान हैं। हम उन राजविधानों के अन्तर में अभी नहीं जाना है। पर जो चीज सब कहीं है वह है बढ़ती हुई सेना, अस्त्र शस्त्र, बढ़ता हुआ सुरक्षा व्यय, बढ़ाया जाता हुआ निर्यात, औद्योगिक उत्पादन, केन्द्रित अर्थनीति, मुद्रास्फीति और मुद्रा निर्भरता। जन की विवशता और तन्त्र की विधायक अधिनायकता। अर्थात राज्य के रूप में थोड़ी बहुत विविधता के अवकाश के साथ हम केन्द्रितता की ओर बढ़ते जा रहे हैं। मन केवल यह कि हमारा इकाई का रूप राष्ट्र राज्य रहे, उसका स्वत्व पक्का और मजबूत रहे, उस पर आंच न आये और उसका तनिक भी कहीं विसर्जन न करना पड़े। अन्तर्राष्ट्रीयता हमको पसन्द है, बशर्ते कि हमारी राष्ट्र-गता अखण्ड और अक्षुण्ण रहे बल्कि उसकी प्रभुता का सिक्का

दो

युद्ध से सबको डर है। वह छिड़ा तो पल भर में आणविक रूप लिए बिना न रहेगा और फिर कोई जीता न बचेगा। इस युद्ध को न होने देने के लिए तयारियां युद्ध की ही की जा रही हैं। तर्क है कि सामने अस्त्र-शस्त्र रहेगा और हम उस तयारी में शत्रु से कम रह जायेंगे तो उसमें जीत का लाभ होगा और हमले की संभावना ही बढ़ेगी। एक करता है तो उतनी दूसरे को भी करनी होती है। वह क्रम कहां रुकने वाला है पता नहीं। यदि अणु अस्त्र की ही रोक एक रोक है और आतंक का बढ़ाते जाना एवं उसका परस्पर संतुलित रखने का ही एक उपाय है तो यह अवस्था कायमी शीत-युद्ध की बन जाती है। अर्थात
आवश्यक होना है कि प्रत्येक क्षण हम
रहें, अन्दर से जो ज्वाला भभक धधक
रहें और वह बाहर कब फट पड़ती है

लेकिन क्या विवशता है कि राजनेता उस दिशा की तयारी को रोक नहीं सकते हैं और नई दिशा खोल नहीं सकते हैं? भय से त्राण की उन्हें बेहद आवश्यकता है बहुत कुछ रचनात्मक काम उनके सामने है। शांति को वे इसलिए चाहते हैं कि उन कामों की तरफ योग दिया जा सके। सबके मन में अपने देश के लिये उन्नति की बड़ी-बड़ी योजनाएं हैं, युद्ध का आतंक टले और उन योजनाओं को हाथ में लिया जाय। लेकिन पूरी इच्छा रखने भी यदि यह नहीं हो पाता है तो कहीं न कहीं हमारे विचार-व्यवहार में गहरी विवशता घर किये बैठी है। नहीं तो क्यों है कि जो नहीं चाहते उधर चलना पड़ता है, और जो चाहते हैं उधर एक कदम भी नहीं रखा जा सकता है।

विश्व-व्यवस्था के विचार और व्यवहार की इकाई आज राष्ट्र-राज्य है। अर्थात् राज्य-केन्द्रित और राज्य-परिचालित राष्ट्रीय समाज। इसके अतिरिक्त और किसी तरह के व्यवस्थित समाज की कल्पना हमारे पास नहीं है। क्रान्तदर्शी तत्त्वज्ञ अथवा कल्पक गीत कवि को छोड़ दें तो राज्य नियंत्रण के अभाव में मानो हमारी आंखों के आगे व्यवस्थाहीन अराजकता का चित्र उपस्थित हो जाता है कि जहां मर्यादा रहेगी नहीं और पशुता खुली खेलने लग जायगी। यह मार्क्स ने कहा और दूसरे मनीषियों ने भी कहा। लेकिन उस शासन श्रेणी मुक्त समाज की कल्पना को यथार्थ में उतारने की दिशा में जो भी आगे बढ़ा वह या तो परि-कल्पक चिन्तक रह गया नहीं तो उसे सहा नहीं गया समाप्त कर दिया गया।

क्रमशः

शुरू से समाज में दो तरह के लोग होते आए हैं। तन और है। जो तन की मेहनत से वस्तु के तल पर काम करते हैं ऐसे तो बहुसख्यक जन है। पर कुछ ऐसे भी होते हैं जो तन मन इन दो से जीवन चलता है। बाहर वस्तु है अन्दर बुद्धि का कष्ट नहीं उठाते वे बुद्धि बल से रहते हैं। पहले श्रमिक, दूसरे बौद्धिक। श्रमिक तो श्रम करता है बौद्धिक उसे बताता है। श्रम से उत्पादन तो होगा लेकिन उत्पन्न द्रव्य के वितरण और सामाजिक भोगोपभोग के लिए व्यवस्था आवश्यक होती है। तो बौद्धिक उस श्रम और द्रव्य के विनियोग से व्यवस्था लाने का काम अपनाता है। श्रमिक पर और वस्तु विनियोग पर ऐसे वह अपना नियन्त्रण हो ले आता है। इस प्रक्रिया म श्रमिक उत्पन्न करता है लेकिन उत्पन्न द्रव्य खिचकर जमा हो आता है बौद्धिक के पास। इसमें मुद्रा सहायक होती है। मुद्रा किसी भी भोगोपभोग में काम नहीं आती है पर अनायास धन वही बन जाती है। लोग चीजें जमा करने के बजाय मुद्रा जमा करना अधिक उपयोगी और सुरक्षित मानते हैं। मुद्रा का शास्त्र और शिल्प उसका मन्त्र और तन्त्र, बौद्धिक के पास रहता है। परिणाम यह कि मेहनती के पास अपनी महनत का फल नहा बचना और बातून के पास वही अनायास प्रचुर मात्रा में इकट्ठा हो आता है। यह चलन इतना आम हो गया है, उसके हम इतने आदी हो गये हैं कि विशेष उसकी चिन्ता की झंझट म नहीं पडते हैं उसको आदि-सत्य मानकर स्वीकृत भाव स चलते चले जाते हैं। इन बौद्धिकों म ही मार्क्स हुआ और दूसरे लोग हुए, पर इन्होंने जो बुद्धि को अपने स्वार्थ स स्वतन्त्र रखा तो उसे बुद्धि वैज्ञानिक बुद्धि

व्यावहारिको की जमात के लिए बडे खतरनाक बन जाते हैं। कारण, वे सचालक व्यवस्थापक, नेता-वक्ता बनने के बजाय बुद्धि का सत्य की जिज्ञासा मे लगाने लग जाते हैं। अर्थात वे समाज की मान्य श्रेणी से नही जुडते और मानो स्वेच्छा से अमान्य बन जाने मे उन्हे कोई विपदा नही मालूम होती है। यह लोग इस तन और मन के भेद को गहरा करने के नही, बल्कि उसको भरने के काम आने लगते हैं। नतीजा होता है कि समाज मे हलचल होती है। सुविधा प्राप्त और सुविधा-हीन भाग्यवान और अभागे—इन दो श्रेणियो का अतर मानो तब कृत्रिम और अपना-बनाया-हुआ मालूम होने लगता है। इस अनुभव के साथ मनों मे उथल-पुथल हो आती है जिसके फल को क्रान्ति भी कह देते हैं।

मार्क्स ने मिलके पूजी की सस्था का अन्वेषण विश्लेषण किया। उसमे से पूजीवाद के नाश का और साम्यवाद की व्यवस्था का स्वप्न जागा। लेकिन यह स्वप्न फिर बुद्धि-व्यवसाइयो के हाथ आया और साम्यवाद ने राज्यवाद का रूप ले लिया। उसमे निजी पूजी तो खतम हुई पर केंद्रित पूजी शुरू हो गई। सिक्का जब राज ढालता है और छापता है तो आसान काम है कि पूजी सब राज की हो जाय, पूजीपति को बीच में से खतम किया जा सके तो पतियों की जमात तो गई, पर पूजी और उसकी ताकत रह गई राज्य मे केंद्रित होने के लिए अथात अधिपति के लिए। मार्क्स से जुटे इन के कारण यह अधिपतित्व चाहे सर्वहारा वर्ग के नाम पर चले किन्तु अधिपति वर्ग के समाप्त होने का अवसर न आ सका। युद्ध बौद्धिक

लोग जनमे जिन्होंने मार्क्स से मिली नई भाषा द्वारा 'करने' और कराने वाला का भेद अपने हित में मजबूत कर लिया। अर्थात् उन्होंने अपने पास सर्वथा 'कराने' का काम रखा और 'करने' का काम अनायास उस वर्ग के पास रह गया जिसे सर्वहारा कहा गया था। 'करान' वालो का राज्य हुआ और वह राज्य 'करने' वालों से तरह-तरह के काम कराने लगा। वैज्ञानिकों से विज्ञान का काम, विद्वानों से विद्या का काम, उद्यमियों और श्रमिकों से उन-उनका काम।

जान पड़ता है कि जो खाई पूंजी और श्रम के बीच समझी गई, जिस खाई को तात्विक भूमिका देकर गहरी और असली बताया गया और जिसमें से श्रेणी शासन से मुक्त नहीं बल्कि उसमें बेहद युक्त समाज पैदा हुआ, वह खाई बाहरी थी। उसको थामने वाला द्वैत और भी गहरा और भीतरी था और वह था बुद्धि और श्रम का द्वैत। बुद्धि अपनी जगह रहकर सोच सकती है कि वह तन को चलाने के लिए है उसी में वह अपना गर्व मान सकती है। इस तरह बुद्धि यदि अपने को अलग और ऊपर मानने का अवसर पा जाये तो काम करने के लिए केवल शरीर रह जाता और दोनों में द्वित्व पड़ जाता है। मानव-जाति के शरीर के साथ लगभग यही हुआ है। सिर ने अपने को धड़ के ऊपर माना है और सिर राजा बनकर रह गया है और धड़ प्रजा बनने के लिए शेष रह गया है।

सहसा इस प्रक्रिया में हमें दोष नहीं दिखाई देता मानो वह प्रकृत है। सिर मानव शरीर में ऊपर रहता है इसमें

म्रापत्ति की कोई बात भी नहीं है। लेकिन जीवन रक्त यदि किसी पद्धति से सिर की म्रोर म्रधिक पहु चे म्रौर शेप शरीर के लिए उसका सचरण मद हो जाय तो वह म्रस्वास्थ्य का कारण होता है। रक्त का दवाव वढ़ जाता है म्रौर मस्तिष्क प्रमत्त होने लगता है।

मार्क्स ने एक शब्द दिया था, 'डि क्लास्ड इन्टलेक्चुम्रल'। पर इन्टलेक्चुम्रल होते ही मानो उसका एक सम-सामाजिक क्लास म्रौर हित म्रलग हो जाता है। बहुत मुश्किल है बौद्धिक के लिए कि वह म्रपने हित को श्रम से जोड़े। बुद्धि मात्र के योग से उसे म्रच्छी कमाई म्रौर बहतर रहन-सहन मिल सकता है तो इस सुविधा को इन्कार करना उसके लिए बहुत कठिन होता है। वह मान सकता है कि यह उसकी उपयोगिता के एवज में म्रा रहा है म्रौर यथाधिकृत है व्यवस्था के हित में यथोचित दाम के रूप में यह सुख-सुविधा हठात उसे दी जा रही है—इन्कार उसका म्रहकृत म्रौर म्रनुचित ही हो सकता है। वह श्रमिक का भला चाहता है उस भला करने में लगा भी रहना चाहता है। पर श्रमिक की दशा यदि धीरे-धीरे सुधरे म्रौर यथावश्यक सब सुख-सुविधाए उस तक पहु चाने में कुछ समय लगे तो कोई कारण नहीं है कि वह प्रयत्न को ढीला करे म्रौर म्रपने को वचित म्रौर म्रक्षम बनाये। यदि म्राज के दिन उसे म्रौसत श्रमिक से कुछ म्रधिक म्रौर विशिष्ट वेतन म्रादि का सुभीता स्वीकार करना पड रहा है तो केवल इसीलिए कि यह सुविधा ज्ञान विज्ञान के म्रौर मशीनी उत्पादन के जोर से जल्दी से जल्दी इतनी प्रचुर कर दी जाय कि सबको

प्राप्त हो सके। इस प्रयत्न म यदि उसे भरपूर जोर से लगे रहना है तो इन छोटी मोटी बातो को वह कसे ध्यान में ले सकता है कि श्रमिक से उसका रहन-सहन थोड़ा-बहुत ऊचा और बढ़िया है। बौद्धिक को वह भेद चुभता नहीं है। उसको लगता है कि बुद्धि को वह सार्वजनिक हित में जो लगाये रखना चाहता है, सो क्या उसी कारण उसे इन विशिष्ट सुविधाओं का अधिकार नहीं मिल जाना चाहिये ? अधिक लोग श्रम नहीं करेंगे, उनमें झगड़े-बखेड़े होंगे व्यवस्था टूट जाएगी यदि वह अपने बुद्धि-दान से इसमें योग नहीं देगा !

ऐसे श्रेणी बनती है, विभेद बनता है और व्यवस्था सुगम होती है। सब समान होने चाहिए, इसका मतलब इतना ही तो है कि सबको समान अवसर होना चाहिए। ऊपर से समान सब हो नहीं सकते हैं। इसलिये व्यावहारिक बनना है और पद-दायित्व के अनुसार अगर स्तरो का अन्तर है तो इस पर ज्यादा अटकने की आवश्यकता नही है।

अत राज्य का नियन्त्रक रूप मजबूत होता और फैलता जाता है– तो कहीं इसीलिए तो नही कि वह नियन्त्रण बौद्धिकों का स्थापित स्वार्थ बन चुका है ? वे और कुछ कर नहीं सकते, नियन्त्रण ही कर सकते हैं ! उनका अस्तित्व-दायित्व असे सार्थक होता है सो तभी कि जब नियन्त्रण में आने को लोग हो। असमानता यदि रहती ही है श्रेणी और वर्ग रहते है, तो नियन्त्रण का औचित्य और उसकी अनिवार्यता अपने आप बन आती है। नियन्त्रक के लिए नियन्त्रण की आवश्यकता

हर कहीं और हर हमेश रहती है। रोज की बात है कि कितना जुल्म होता है, अत्याचार होते हैं, हत्याए होती हैं, जुर्म और पाप होते हैं। आखिर इन्हें बन्द होना चाहिए कि नहीं? कैसे बन्द होंगे?—अगर ऊपर से नियन्त्रण न होगा? इसलिए नियन्त्रक को ऊपर होना पड़ता और सिर्फ नियन्त्रण का काम करना पड़ता है। इस प्रकार राज्य पूरे समय का काम हो जाता है, और वह काम इतना—इतना बड़ा होता जाता है कि लाखो लाखके लिये वही एक पूरा और हरसमयका काम हो रहता है। यह आदमी उपजा नहीं सकता, दूसरा कुछ बना जुटा नहीं सकता, एक नियन्त्रण का ही धधा कर सकता है। आज्ञा दे सकता है, आदेश निर्देश-सदेश दे सकता है और करवसूली कर सकता है। उस जमा हुए तरह-तरह के करो से यह लाखो लाख का वर्ग राजकीय नियन्त्रण का काम किया करता है। करते-करते यह उसका स्थापित स्वार्थ हो जाता है। यह स्थिति आने पर उसमें फिर निरतर अभिवृद्धि और सवृद्धि की आवश्यकता होती रहती है।

राज्य का आज रूप कुछ ऐसा ही है। उसके लिए फलना और बढ़ना जरूरी है। सत्ता का स्वरूप मिलते ही उसे अपना वर्चस्व बढ़ाना पड़ता है। इस काम के लिए धीरे धीरे जीवन के सभी सविभाग उसे अपनी सरक्षा में लेने होते हैं। यह स्थापित स्वार्थ निश्चित रूप से दूसरों मे स्पर्द्धा जगाता और उनसे टक्कर में आता है। तब उसको अपनी फौज बढ़ानी पड़ती है। अपने आधीन देश प्रदेश में कर उगाही के लिए सम्पन्नता बढ़ानी पड़ती है, जो अत में राजकीय सम्पन्नता ही

होती है। अंदर के और बाहरी दबावों के बीच यदि एक बार प्रभुसत्ता-सम्पन्न राज्य खड़ा हो जाता है तो अपनी प्रेरणा और परिस्थिति के तर्क से उसे अपना लवाजमा बढ़ाते ही जाना होता है।

इस विवशता से कोई भी राष्ट्र राज्य बचा हुआ नहीं है। तन्त्र उसका अधिनायक वादी हो कि लोकवादी हो। कुछ दिमागी लोग यदि हैं और वेवस हैं कि वे दिमाग से ही जियेंगे, और सबसे बढ़-चढ़ कर जियेंगे और इस तरह का जीना यदि उपादेय और उन्नत समझा जाता है, तो कोई उपाय नहीं रह जाता सिवाय इसके कि चतुराई का तन्त्र चले और मेहनती का काम निरी मेहनत रह जाये। बुद्धितन्त्र दूसरे शब्दों में मुद्रातन्त्र हो जाता है। दिमागी श्रेणी के पास अपने समर्थन में सबसे बड़ा तर्क यह रहता है कि वह स्थानीय बातों में नहीं बंधता विश्व की और मानवजाति की भाषा में रहता और सोचता है। इसलिए अनायास वह अपने को ऊंचा और नेता अनुभव कर आता है। इन्सान वह भी होता है, उसी तरह सुख दुःख अनुभव करता है, राग-द्वेष उसमें होते हैं आशा आकांक्षा होती है पुत्र कलत्र की आवश्यकता होती है। यानी वह अन्दर से औसत आदमी से विशेष अलग नहीं होता। लेकिन श्रम से मुक्त रहने के कारण दिमाग उसका उड़ने लगता है। इस उड़ते दिमाग के सहारे वह तरह-तरह के मनोहारी शब्द रचता और लोगों में सपना और तृष्णा जगा देता है। बस बुद्धि की इस चतुराई से वह विशिष्ट बन आता है और श्रमिकों के मन में यह भ्रम भर देता है कि उसे विशिष्टता और उच्चता पर रखना उनका काम है।

व्यवस्था मे इससे सचमुच आसानी हो जाती है। मर्यादाएं पैदा होती हैं और स्पर्धा की जगह नम्रता उपजती है। विग्रह की जगह सहयोग की संभावना पैदा होती है। लेकिन कुल मिलाकर बुद्धि चातुर्य का पलड़ा भारी होने लग जाता है और शरीर-श्रम घुसने-पिसने लग जाता है।

श्रम और बुद्धि का द्वैत एक बार पैदा हुआ और उचित बना तो फिर वह कहाँ तक बढ़ता जा सकता है, इसका ठिकाना नहीं है। आज सभ्यता का जो संकट अनुभव में आ रहा है उसमें इस द्वैत का चरम देखा जा सकता है। मजूर और हजूर ये दो श्रेणियाँ ही बन आई हैं। ध्यान रहे कि यह श्रम और पूंजी का बटवारा नहीं है, क्योंकि पूंजीपति के ऊपर उसका भी हजूर बनकर एक शासक अधिपति तना बैठा हुआ होता है। वह पूंजीपति नहीं है, फिर भी बड़ा हजूर है। अर्थात् श्रम-पूंजी के बटवारे के आधार पर उस समस्या को आर्थिक मान लेना और इस तरह उसे आर्थिक विचार विवेचन में डाल देना पर्याप्त नहीं होगा। जहाँ ऐसा होता है वहाँ निस्तार फिर प्रशासनिक नियंत्रण में जान पड़ने लगता है। अर्थात् बीच के हजूर को हटाओ-मिटाओ, बड़े हजूर का बढ़ाओ-चढ़ाओ। संक्षेप में बड़ी हजूरी का दरबार चलाओ। अर्थात् पारमार्थिक को घटाकर आर्थिक को ही जब हम पकड़ते हैं, और अधिकांश ऐसा ही हो रहा है, तो समाज में समता लाने के लिए हमको एक गहरी विषमता को हमेशा के लिए बीच में पैदा कर लेना आवश्यक लगने लग जाता है। एक वह श्रेणी जो व्यवस्था करे दूसरी वह श्रेणी जो काम करे और ताकीद में रहे।

मर्थात् एक वर्ग प्रशासन का आवश्यक होने लग जाता है, जो शेष दूसरो को अनुशासन मे रखे और अनुशासन से जरा निकलने पर उन्हें प्रशासन से दंडित करे।

आर्थिक बनते ही सवाल भावना का नही रहता हिसाब का हो जाता है। वह आत्मसोपन की भूमिका से उठकर विधि व्यवस्था अथवा कानून का बनने लग जाता है। उसका रूप होने लग जाता है कि समान बांटो, इसमे दो के बीच समान बटवारा करने के लिए तीसरे की आवश्यकता होती है। दो बिल्लियों में बराबरी का झगडा हो तो बीच में बन्दर आ कर उन दोनों को समान आसानी से इस तरह बना दे सकता है कि सब खुद हड़प जाय। आर्थिक प्रश्न इस तरह सदा प्रशासन के लिए काम पड़ा करता है और आईन कानून का बन जाता है। प्रशासन को इससे समर्थन मिलता है और उसके मजबूत होते जाने की परिस्थिति का निर्माण होता है।

राजनीति की इसीलिये सदा आर्थिक भौतिक दृष्टि होती है। योजनाएं उसकी आर्थिक होती हैं और जितना यह ऊपर से आर्थिक आयोजन-सयोजन विनियोजन हुआ करता है उतना ही अस्तित्व का प्रश्न अनिवार्यत सबके लिए प्रमुख और विकट बनता जाता है। एक को मानो दूसरे की स्पर्धा में जीना होता है। जीने की भाषा नैतिक से आर्थिक, गुणात्मक से परिमाणात्मक होती जाती है। आदमी के लिए यह प्रश्न कि अन्दर से यह क्या है क्या हो, गौण पड जाता है। प्रश्न मुख्य यह हो

जाता है कि वह बाहर से क्या है, उसके पास क्या कितना है। यह स्थिति आने पर ईमान से अधिक संग्रह का मूल्य बढ़ जाता है। गुण से ऊपर संख्या, क्वालिटी से ऊपर क्वांटिटी आ जाती है। आदमी खुद होने की नहीं सोचता, कुछ बनने की सोचने लग जाता है। जीवन का प्रवाह इस तरह मानवता से उलट कर वस्तुता की ओर बढ़ने लग जाता है और इस पर गर्व होने लगता है कि हम आदर्श से मुक्त हैं, इतने यथार्थवादी हैं। यथार्थ मूर्त लगता है पैसे में, और सबसे बड़ी बुद्धिमानी पैसे से वर्तमान को फला फूला बनाये रखने में हो जाती है। भविष्य खामख्याली का दूसरा नाम हो जाता है। वर्तमान का अर्थात् पैसे का भोग सबसे बड़ा सत्य बन जाता है। विचार को अर्थनीतिक रखने में विश्वास करने वाली विचार धारा से राज चलाने से यह स्थिति अपने आप पैदा हो जाती है।

उदाहरण के लिए भारत को ही लीजिए। यह स्वतन्त्र हुआ और बड़ी योजनाओं का निर्माण हुआ। उसके शासक त्यागी पुरुष थे। गांधी के अनुगामी रहे थे जो महात्मा था। लेकिन योजनाओं के अनुसार जो धड़ल्ले-से तरक्की हुई तो मालूम हुआ कि साथ-साथ आपसी सम्बन्धों से बुना हुआ समाज का पट झीना बन रहा है। उन सम्बन्धों में भ्रष्टाचार बढ़ता जा रहा है। धन जितना बढ़ा है, धन का लोभ उससे अधिक बढ़ा है। और इन सब कारणों से सबसे अधिक फलना और बढ़ना पड़ा है राज्य के तन्त्र को और लवाजमे को। यह परिणाम इष्ट और प्रत्याशित था, सो नहीं। शायद शासक नेताओं को अनिष्ट और अप्रत्याशित ही वह लगा। यद्यपि

यह एक दम तक सगत और अपरिहार्य था। पर उपाय न था। बाढ़ खुल चुकी थी और अपने ही कृत्यों और करय के परिणामों से बचना संभव कैसे हो सकता था?

कारण परम आर्थिक से जीवन दृष्टि को निरी आर्थिक तक ले आया गया था।

तीन

दो किसान हैं। उनके खेत साथ-साथ लगे हैं। रोज आपस में मिलते-बोलते हैं और बड़े मित्र हैं। लेकिन मान लीजिए, उनके खेतों की मेड़ पर से दो देशों की सीमा रेखा जाती है। तब दोनों पड़ोसी नहीं रहते, विदेशी बन जाते हैं। उनमें स्वाभाविक सहानुभूति का सम्बन्ध फिर नहीं रह सकता। जो सम्बन्ध होगा वह उन दोनों देशों की विदेश नीति से रंगा होगा। इस तरह आसपास के पड़ोसी अकारण आपस में गैर और दुश्मन तक बनने को मजबूर हो जाते हैं।

अभी जर्मनी में देखा कि पूर्वी को पश्चिमी बर्लिन से अलग करने वाली लकीर कहीं-कहीं एक मकान के बीच से आर-पार होकर गई है। कुछ कमरे एक राज्य में आये हैं, दूसरे दूसरे राज्य में। उस ही नगर के पूर्वी और पश्चिमी

भागो में आपस मे कोई सद्भाव नहीं है। राजनीतिक इस दुर्भाग्य की यह दरार नक्शे की लकीर से कागज पर ऐसे खिंची कि उससे परिवारों और घरो के दिल मानों आरी स चीर दिये गए हैं। पश्चिमी और पूर्वी जर्मनी के बीच की हद से एक जगह एक गाव देखा कि पूरा पश्चिम में आ गया है, सिफ एक घर पूरब में बच गया है। अब यह एक अकेला घर सारे गांव के सहयोग के अभाव मे जाने किस तरह जी रहा होगा!

राज्य की हदबन्दी इस तरह मानव सहानुभूतियो के प्रकृत सूत्रों को काटे-तोड़े बिना नहीं होती। उन सीमा रेखाओ के आर-पार के सम्बन्ध सहज मानवीय नही रह जाते राष्ट्रीय के नाम पर विषम सदिग्ध बन जाते हैं। कहना चाहिए कि ऐसे राजनीति मानव-नीति से उल्टी पड जाती है और मानव के विकास में बाधा डालती है।

होना चाहिए था यह कि राजनीति मानव के उत्कर्ष की द्योतक होती और उसके विकास की अग्रिम रेखा समझी जाती। इतिहास का आरम्भ कुछ इसी क्रम से हुआ होगा। परिवार और समाज बना तो अपने आपसीपन के विकास की अनिवार्यता के कारण। मनुष्य के अन्दर एक दूसरे के लिए सहज सवेदना है। उसी में से पारिवारिकता और सामाजिकता का उदय हुआ। यह बढ़ती फैलती हुई मानव की एकता निश्चय ही अनायास सिद्ध नहीं हुई, घटकों में आपस में मुठभेड भी हुई। ये घटक तरह-तरह से बने, भूगोल की, रक्त की, जातीयता की या कभी विचार की एकता से भी इन घटकों

का निर्माण हुआ। उनमे अपना अपना पृथक स्वत्व भाव जागा और सहानुभूति दुगम बनी। जब पहले-पहल ये घटक एक दूसरे के स्पर्श में आए, उनमे रगड़ और टक्कर हुई। लेकिन जीवन क अनिवाय तक से पीछे उनमें लेन-देन बढ़ा और एक दूसरे की समझ पैदा हुई। राजनीति हमारी इसी पद्धति से विकास पाती गई और इकाइयां वे अतत आपसी समाई और समझौते से फलती-बढ़ती गई।

लेकिन इस क्रम में कोई दो सदियो से अवरोध आया दीखता है। विग्रहों के इतिहास मे से सग्रह इन सदियों मे पहले की भांति फलित नहीं होता दीख रहा है। राष्ट्र राज्य कायमी सा बना जा रहा है और उस से पार जाने और ऊचे उठने के निमित्त उपयुक्त सझायें और सस्थायें हमारे बीच पदा नहीं हो रही हैं। विज्ञान अवश्य तेजी से बढ़ रहा है। उसकी रफ्तार यहां तक है कि धरती का ग्रह अपने उपग्रह चांद की ओर ही हाथ बढ़ाने वाला नहीं है, पर मगल आदि साथी ग्रहों के साथ भी उसका परिचय और आवागमन शुरू हो सकता है। लेकिन इस उत्कष को वज्ञानिक और बौद्धिक भर माना जाना चाहिए। कारण, व्यवस्था-व्यवहार की परिपाटियां समाज मे तदनुकूल बन नहीं पाई हैं। अन्तर्राष्ट्रीय सस्थाए हैं और कुछ सेवाए भी उस स्तर पर काम कर रही हैं, लेकिन इस अतर्राष्ट्रीयता के मूल में प्रभुसत्तात्मक राष्ट्र राज्य की स्वीकारता है और राष्ट्रीय स्वार्थों के ताने-बाने के हिसाब से उस अतर्राष्ट्रीयता का परिचालन होता है। उस अतर्राष्ट्रीयता के नीचे राष्ट्रीय आवेश-विद्वेष मजे से काम करते और बढ़ते

स्वत्व का पहली बार भोग पाया है और अपने अस्तित्व का वे सिक्का चाहते हैं। यो सारा राजनीतिक विश्व उद्ग्रीव होकर खड़ी हुई राष्ट्र राज्यो की अस्मिताओ से आक्रांत हैं और आये दिन नई-नई समस्यायें उस स्तर पर उत्पन्न हो रही हैं।

इस स्थिति मे दो देश विशेष उल्लेखनीय बन जाते हैं। एक चीन दूसरा भारत। पहले दोनों हिमालय से अलग अलग थे। अब उसी हिमालय से वे पास नहीं आ गए बल्कि मिल गए हैं। चीन दुनिया का सबसे बड़ा देश है और दुनिया की एक तिहाई आबादी यहां बसी हुई है। साम्यवाद कुछ पहले तक एक अखण्ड सिद्धांत ही नहीं था, बल्कि अखण्ड साम्राज्य भी था। समझा जाता था कि राष्ट्रीयताएं इस अखण्डता में लीन हो गई हैं और एक वचारिक राष्ट्रीयोत्तरता का उदय हुआ है। यह नई सम्भावना और नई घटना थी और कल्पना को पकड़ती थी। लेकिन इस वचारिक अखंडता में दरारें दीख रही हैं। यद्यपि तरह-तरह की लिपी-पुती सफाई उस विषय में दी जाती है, लेकिन सच यह है कि मूल मे राष्ट्रीय भाव की समाप्ति हुई ही न थी, अत स्वार्थिक हितों को भूमिका पर वह मानी गई अखण्डता आज खण्डित हुई पड़ी है। रूस कम्युनिस्ट है, चीन कम्युनिस्ट है लेकिन दोनों के बीच एक लम्बी सीमा रेखा भी है। वहां पर ऐक्य नहीं है, अनैक्य है। उतना ही नहीं बल्कि निरंतर रगड़ झगड़ तक है। मास्को के पास अणु बम हैं तो इससे पेकिंग को आश्वासन नहीं प्राप्त हुआ। बल्कि उल्टे उसको अपने अणुबम का निर्माण आवश्यक मालूम हो आया। उधर मास्को के लिए चीन का यह

अणुशक्ति-सम्पन्न होना रूप का विषय नहीं हो सका। दोनों आज धर्म से मुक्त हैं या कहिए, दोनों मार्क्स-लेनिन वाले धर्म के अनुयायी हैं। लेकिन जान पड़ता है कि धर्म अथवा वाद की एकता किन्हीं दो राष्ट्रीय स्वार्थों को आपस में मिला नहीं पाती है। चीन जनसंख्या से महादेश होकर भी महानों की गणना में नहीं आता था इसी से अब मानो वह कटिबद्ध है कि संख्या के तर्क से ही नहीं बल्कि बल और शस्त्र के तर्क से भी वह सबसे बढ़ा-चढ़ा होकर ही रहेगा।

उसी हिमालय के दक्षिण का देश भारत है। तिब्बत अब है नहीं जो पहले था और चीन के भारत की ओर के दबाव को, जब वह हो तो अपने में सोख लेता था। अब चीन की बढ़ती हुई शक्ति का दबाव भारत की सीमा पर सीधा पड़ रहा है। कुछ पहले खुली मुठभेड़ तक होकर चुकी है जिसमें साफ चीन की शक्ति प्रबलतर सिद्ध हुई। फिर भी चीन वापिस लौटा। इससे माना जा सकता है कि नीति का पक्ष भारत का ऊंचा रहा होगा।

भारत देश कुछेक वर्षों से ही स्वतन्त्र है, पहले यहां अंग्रेजी राज था। स्वतन्त्रता भारत देश ने अपने ही तरीके से जीती। वह तरीका इससे पहले इतिहास में कभी काम में नहीं लाया गया था। माना जाने लगा है कि राजनीतिक स्वार्थों के विग्रह की भूमिका पर वह तरीका आगे भी कभी काम में आने लायक नहीं है। खुद भारत स्वतन्त्र होकर अपने बीच जिस राष्ट्रवाद को पनपा रहा है, उससे प्रकट होता है कि वह भी उस तरीके

में से अपना विश्वास खो बठा है। परतन्त्रता मे जो चला सो चला, शायद गाधी का महात्मापन उन परिस्थितियों म कारगर हो सक्ता था। अब जब कि परिस्थितियाँ आगे वढ़ आई हैं, देश को स्वराज्य पाना नही है बल्कि उसको बनाना है, तब सत तरीके नही चला जा सकता है। कुर्बानी करने और जेल जाने की बात अब नही है प्रशासन और शासन करने की बात है। इसलिये महात्मा को और बातों मे याद रखना जरूरी हो सकता है राजनीति के क्षेत्र म उनको कष्ट देने से बचना और बचाना चाहिए।

स्वतत्र भारत के राज-कर्ता गाधी जी के माग पर चलने वाले लोगों म से ही थे। गाधी को वे भूले नही थे, लेकिन अपने सामने आई नई परिस्थितियों के मुकाबले के लिए उन्हें भूलना आवश्यक अवश्य मानने लग गए थे। फिर भी एक मात्रा तक ही यह सम्भव था, सवया सम्भव न था। शायद उस आत्मा का प्रताप हो (यद्यपि एक अणुबम कोई चालीस पचास करोड़ रुपये के खच से बनता है और उतना खच यहाँ की अथ रचना को गडबड में डाल सकता है) कि अणु विज्ञान और अणु शिल्प के पास रहते भी भारत ने अणुशस्त्र न बनाने का सकल्प किया है। अर्थात कितने भी भारतीय नेता राजनीतिक हो पर नतिक मूल्य से वे उतने उदासीन नहीं हो पाते। तो यह नतिक भूमिका पर रहना चाहने वाला स्वतत्र भारत देश विश्व की राजनीति म अपना एक स्थान रखता है। जन-बल और शस्त्र-बल से चीन यदि दुनिया का बहुत बडा देश है तो नीति-सस्कार की दृष्टि से और अपने आधुनिक

इतिहास की उज्ज्वलता के बल पर भारत भी कम प्रमुख नही है।

कहा जा सकता है कि भारत के समान चीन भी स्वतंत्र भाव से अभी हाल मे अपने पावो खडा हुआ है। पहले का चीन था, पर मानो अंतर्राष्ट्रीयता म नगण्य था। कम्युनिस्ट चीन एकदम गणनीय बन उठा है। यह नया दर्पी चीन जिस रीति से उदय मे आया वह भारत से एकदम उल्टी थी। यहाँ अहिंसा का आग्रह था तो वहा हिंसक भावो और साधना का ही सहारा था।

महात्मा गाधी भारत के पास नहीं रह गए हैं। इससे न यह दर्शन न नीति ही सक्रिय रूप में यहाँ के राष्ट्रीय-व्यापारा मे उपयुक्त दीखती है। किन्तु माउत्सेतु ग जोर शोर के साथ हैं। अत उनकी अधिनायकता में चीन की सैन्य-सत्ता का जो हमला भारत की उत्तरी सीमा पर हुआ तो उसका उत्तर भारतीय नेतृत्व गांधी की भाषा मे नहीं दे सकता था। उत्तर दिया गया और उसकी भाषा आम तौर पर समझी जाने वाली फौजी भाषा ही थी।

दूसरे शब्दा म दुनिया का कोई देश नही है आज जहां मूलत राज्यसत्ता का भरोसा ही न हो। यह राज्य-अथवा राष्ट्रसत्ता का ही मूल्य था जिसकी उभार देकर यह सभ्यता चल कर यहा तक आ गई और अब आगे माग बन्द पाती है!

माग आगे बद इसलिए है कि यहा अणुवम आ वठा है। अभी तक तो निपटारा होता रहा है राष्ट्र राज्यों की आपसी प्रतिस्पर्धा का युद्ध के उपाय से। अब वह उपाय निपटारा नही कर सकता करेगा तो पूरा खात्मा ही करेगा। इसलिये प्रश्न जो प्रस्तुत है वह यही नही है कि इस बीच की हालत का कसे पार किया जाए शस्त्रास्त्र की होड मे कोई पक्ष निश्चित रूप से अधिक बलशाली बनकर समस्या को निपटा सकता है यह सभावना ही नहीं है। ऐसा नही हाने वाला है कि अमरीका और रूस मे कोई आणविक या आकाशीय विभता मे निश्चित रूप से काफी आगे निकल जाए और इसलिये दूसरा देश नीचे झुक आए। ऐसी स्थिति आने से पूव आहृत अभिमान मे वह देश जो भी हो सके किये विना न रहेगा और परिणामत अणुयुद्ध का विस्फोट हुए बिना न रहेगा। इस आशका को होड की पद्धति से किसी तरह टाला नही जा सकता है।

सकट को काटने के लिए जरूरी यह हो आया है कि जड में जाकर देखा जाय कि सकट बनने ही मे कसे आया। कोई उस सकट की अवस्था से प्रसन्न नही है। किसी म आज यह शखी भी नहीं है कि वह दूसरे पक्ष को पछाड ही देगा। पिछले दो विश्वयुद्धो म सचमुच ऐसे सपने जाग आए थे। व्यावहारिक राजनीति मे आज उस मूखता के लिए तनिक भी अवकाश नही है। भवक्रिया तक ही ठीक है लेकिन क्यूबा म जव अनो की स्थिति आ बना ता ख्रुश्चेव जसे विश्वस्त अधिनायक नता को कदम वापिस लेना पडा। चीन मे माओत्सेतुग न उस समय कुछ भी क्या न कहा हो, लकिन अगर स्वय अणुवम निमाण

के बाद उन्हें ऐसी स्थिति में पड़ना पड़े तो उनके लिए भी, अगर वह होश में रहे तो दूसरी गति न हो सकेगी। मानव जाति को ही भस्म कर डालने का दायित्व कोई अपने सिर नहीं लेना चाहेगा।

अर्थात् आगे राह बन्द है और वह सामने चिने हुए अणु-शस्त्रास्त्रों के पहाड़ में है। तो यह न हो सकेगा कि राह अणु विस्फोट के बीच में से निकाली जाए। साफ है कि राह उधर है ही नहीं वरना वहां पहले ही सर्वनाश बठा है। यह भी स्पष्ट है कि संकट इच्छापूर्वक नहीं बना है और आगे बढ़ते जाने के संकल्प मात्र में से वह कटेगा भी नहीं। राह जो हम चलते आये हैं वही अनिवार्यत इस संकट के बिन्दु तक हम ले आई है। अभी तक जानने का अवसर न था कि जिस उन्नति की राह पर गर्वातिरेक में हम आगे चले जा रहे हैं वह आगे जाकर बन्द मिल जाएगी। शायद अनुभवी कोई बताता और सिद्धान्त रूप से सभी अनुभवियों ने पहले बता ही रखा था तो हम सुनने वाले न थे। गति हमारी तेज थी और विजय सामने मुस्कराती दीखती थी। पर अणुबम की उपस्थिति ने समय ला दिया है कि हम पहचानें कि यह आशा प्रवंचना थी और स्वप्न मायामय था। गति हमारी शायद उन्मत्त थी और राह वह झूठी थी जो हमने पकड़ी थी। आवश्यकता उस मायावी दर्शन से बचने की है कि जिसने इस राह हमें भटकाया। एक बार उस राह पड़े कि माया का मोह बढ़ता ही चला गया और बीच में रुकना सम्भव न हुआ। रुकना पड़ गया है इस अन्त पर आकर फिर भी अब तक का गतिवेग मानो हमें

अणु-स्फोट की ओर ठेलता ही जा रहा है। नही चाहते हैं पर अतीत का तक मानो वर्तमान को विवश किये हुए है और यद्यपि अणुअस्त्र से निर्माण नही निकलता, निपट संहार ही निकलता है, तो भी जानते-बूझते, एक-दूसरे की शत्रुता के सहारे, अणुअस्त्रों का अपना ढेर हम बढ़ाते ही जा रहे हैं।

अजब दुविधा की स्थिति है। बढ़ने को विवश हैं उतने ही ठिठकने को भी विवश हैं। चीन के पास क्यूबा के समय अणुबम नही था और वह बढते जाने की ही भाषा में बोलता था पर रूस के पास उसकी कमी नहीं थी इसलिए उसे सोचना और ठिठकना पड गया। अब भी चीन अणु-क्षेत्र मे आत्महीनता की अनुभूति के कारण जीत के मद मे आगे बढ़ते जाने की सोच सकता है। पर कमी जब उसके पास नही रह जाएगी तो अपनी भरपूरता मे ही उसे देखना होगा कि आगे बढ़ने के लिए अब एक कदम की भी गुंजाइश नही रह गई है। कारण आगे विनाश का महा अनल गर्त खुला हुआ है।

राष्ट्र राज्य अनेक हैं और अपनी प्रभुसत्ता मे सब बराबर है। इसलिये वस्तु-सत्ता म भी वे हर बड़े से बड़े के बराबर होने की इच्छा रख सकते हैं। हीनता म से गर्व निकलता ही है। शायद इस प्रेरणा मे सभी देश औद्योगिक उत्कर्ष पर पहुँच जाना चाहते हैं। अर्ध विकसित या अविकसित बनकर कोई रहना नहीं चाहता। सभ्यता मशीनी है और मशीन के

जोर से हर देश आयात कम करके अपना निर्यात बढ़ा डालना चाहता है।

स्पष्ट है कि सारी दुनिया के सन्दर्भ में निर्यात आयात जितना ही हो सकता है। निर्यात को बढ़ाने की कोशिश अन्त में मण्डी बढ़ाने की कोशिश ही रह जाती है। सम्पन्नता की यह धारणा आवश्यक है कि आधी दुनिया को मण्डी के रूप में देखे और फिर ऐसी सम्पन्नता से जरूरी होता है कि विपन्नता जारी रहे। प्रचुरता के लिए कोई सब अपने को बढ़ाते जाने का नहीं रह जाएगा अगर साथ-साथ कहीं अभाव भी उत्पन्न नहीं होता जायेगा।

ऐसा मालूम होता है कि दुनिया इसी चक्कर में जिच में आकर फंस गई है। कोई देश भी अगर ऐसा नहीं रह जाता है जो परतन्त्र हो, या उपनिवेश या मण्डी बनकर रहना गवारा करे तो दुनिया की अर्थ-व्यवस्था एकदम गड़बड़ में पड़ जाने वाली है। और राष्ट्र राज्य की गरिमा के स्वप्न ने लगभग यही भाव सबमें भर दिया है। स्वतन्त्र हुए बिना कोई भी अब रहने वाला नहीं है, देश ही स्वतन्त्र होकर नहीं बैठने वाले हैं, बल्कि प्रदेश भी स्वतन्त्रता की मांग में उठ सकते हैं। यह स्वतन्त्रता अगर परस्पर की स्पर्धा में टकराने वाली हो तो अव्यवस्था की स्थिति आ जाएगी। पर राष्ट्रीय-स्वतन्त्रता अथवा कि राष्ट्र राज्य की इससे दूसरी धारणा हमारे पास है नहीं। परिणाम यह है कि स्वतन्त्रता के लिए पहले आन्दोलन होता है, और स्वतन्त्रता के बाद उसकी रक्षा के लिए भी

उतना ही आंदोलित रहना पड़ता है। मानो हर स्वतंत्र राष्ट्र का अपने पड़ोसी के लिए खतरा हो आना आवश्यक हो।

राष्ट्रों के आपसी सहयोग-संधि से कुछ अन्तर्राष्ट्रीय समुदायों का भी निर्माण हुआ है। यूनाइटेड नेशन्स को वैधानिक मान लें तो भी स्वेच्छा से कुछ आपसी संघ बने हैं। सबसे महत्व का इस सम्बन्ध में पक्षमुक्त देशों का अभी हाल में हुआ काहिरा अधिवेशन है। उन सभी के अनुभवों से जान पड़ता है कि केवल स्वतन्त्रता से समस्या का हल नहीं होता बल्कि समस्या का केवल रूप बदलता है। बल्कि कहा जा सकता है कि उससे नये रूप की समस्या का आरम्भ हो जाता है।

उदाहरण के लिए सन ४७ से ठीक पहले और ठीक बाद में भारत को लिया जा सकता है। पहले का भारत एक संकल्प में एकत्रित भारत था। बाद वही विकल्पों में बिखरा सा हो आया। प्राणों की एकता और भाव की जो उत्कटता पहले थी बाद में वह खिसक गई। पहले मानो जीवन के पास एक लक्ष्य था और उसके लिए प्रयत्न पुरुषार्थ जगा रहता था। बाद में वह लक्ष्य अस्त हुआ तो उसकी जगह दूसरा कोई उदय में नहीं आया और औसत नेता और औसत नागरिक के लिए तत्काल का भोग ही प्रधान हो गया। जो दल बलिदान के मार्ग पर होकर परस्पर संयुक्त और सुगठित था वही विभक्त और विघटित होने लगा। राष्ट्रीय था वह दलीय हो गया और ऐक्य में दरारें पड़ने लगीं। हार्दिक सहयोग घटने लगा

ग्रौर वधानिक सयोग ही उसकी जगह भरने का उपाय रह गया। सक्षेप मे स्वतत्रता समाधान के रूप म नही आई, उल्टे समस्या के रूप में उतरी मालूम हुई।

स्वराज्य दूर था तो हिंदू मुस्लिम यहाँ एक थे और मिलकर जेल जा रह और खून दे रहे थे। स्वराज्य आता सा दिखाई दिया तो काग्रेस के मुकाबले लीग बन आई। परिणाम कि स्वतत्र होन के साथ भारत का विभाजन भी हुआ। विभाजन वह सकडों सालो से बनते आते हुए मानव सम्बघो के नाजुक तन्तुओं नर फरसे के मानिंद पडा और इतिहास की वह लोमहषक घटना हुई कि याद करत भी जी कापता है। यह सब प्रमाणित करता है कि दश का स्वायत्त और स्वतत्र होना अपने आप म कोई समाधान कारक स्थिति नही है। विश्व के सदभ म देखें तो समस्या म उस कारण बल्कि एक नया कोण और उभर आता है।

और वह समस्या जो दुनिया को आक्रात किये हुए हैं मानव जाति म प्रभूत परिश्रम का सहार की तयारियों मे लगे रहने को विवश किये हुए हैं, जिसके कारण मानव भय और चिंता और अभाव म रहने को विवश हो रहा है, वह है राष्ट राज्यो का नितात प्रभुसत्तात्मक और प्रतिस्पर्धात्मिक रूप।

चार

एक विचार है सामाजिक न्याय। उस विचार से मनुष्य निरपेक्ष नही हो सकता। उसी की अनिवार्यता में से हम अपने संस्कारों और संस्थानों का निर्माण करते हैं। प्रबल जब दुर्बल को दबाता-सताता है तो मन कहता है यह अन्याय है, न्याय होना चाहिए। न्याय की मांग मानव चेतना में गर्भित है और विकास मानो इस न्याय की चेतना का ही विकास है।

व्यक्तियों के सम्बन्ध में हम स्पष्ट देख पाते है कि महान् वे नही हुए जो धनाढ्य थे, प्रत्युत जिनकी महानता इतिहास में से प्रमाणित और परिपुष्ट बनी वे हुए हैं जिन्होंने धन कमाने की तरफ रुख भी नही किया। धनपति अपने प्रभाव को बढ़ा चढ़ा मान सकता है, लेकिन उसके सम्बन्ध आसपास

स्नाय और ईर्ष्या के वन जाते हैं। इन विरोधात्मक सम्बन्धों की निषेधवृत्ति के कष्ट से वह बच नहीं सकता। उसकी धनिकता जो किसी दूसरे की निधनता से जुड़ जाती है, सो उसके दबाव से उसकी मन स्थिति स्वस्थ और प्रफुल्लित नहीं रह पाती। उसे दुश्चिन्ता मे रहना पड़ता है, उसकी चेतना स्वरक्षात्मक हो जाती है। उसके लिए फिर आत्मदान सम्भव नहीं रहता और हर 'पर' से अपने 'स्वत्व' को बचाए रखने के चक्कर मे उसे चकराना पड़ता है।

व्यक्तिक क्षेत्र मे इस अनुभव को स्वीकार किया ही गया है और तदनुकूल धर्म के शास्त्र एव सिद्धात बने हैं। नैतिकता की धारणाएं उत्पन्न हुई हैं। कृतार्थ भाव से हमने उन लोगो को मस्तक झुकाया है जिनका जीवन बलिदान का उदाहरण बन सका है। स्वार्थ से हम व्यक्तिश मुक्त न हों, लेकिन परमार्थ को हमने मूल्य माना है। उस मान से हम अपने को और सबको नपा करते हैं। अर्थात् व्यक्तिक क्षेत्र मे हमारे मान-मूल्य नैतिक ही होते हैं।

पर राष्ट्र पर आकर मानो मूल्य अनायास बदल जाते हैं। राष्ट्र के रूप म अपने को सम्पन्न और समृद्ध बनाते जाना मानो हमको सबसे सगत और उचित जान पड़ता है। मानो उस जगह न्याय का प्रश्न उठने के लिए रहता ही नहीं। व्यक्ति स्वय म ही नहीं है, दूसरों के साथ है, इसलिए नैतिकता का मान समाज के अर्थ म, सहज आवश्यक जान पड़ता है। समाज अपनी ओर से राज्य की सृष्टि करता है कि जो नैतिक

मानों की रक्षा के अथ रोक-थाम के उपाय, जिसे कानून कहते हैं, बनाता और अपनाता है। पर उसी तरह राष्ट्र भी अनेक हैं और परस्परता के बिना उनमें आज किसी का काम नहीं चल सकता। लेकिन अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में नैतिक मूल्यों की उतनी संगति नहीं समझी जा रही है। प्रत्येक स्वतंत्र और प्रभुसत्ताशाली है और जिन भी उपायों से सम्भव हो जल्दी से जल्दी बलशाली बन जाना चाहता है। बल का आशय पड़ोसी से प्रबल। इस अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में हमारी कल्पना इससे ऊंचे जा ही नहीं पाती है। सबके लिए जो स्वयं बलिदान का जीवन अपनाता है, वह व्यक्ति श्रेष्ठ बनता है लेकिन राष्ट्र की श्रेष्ठता और सफलता के लिए भी बलिदान की यह नीति हो सकती है यह बात किसी तरह हमारे मन में नहीं बैठती। मालूम होता है कि राष्ट्र के लिए तो स्वरक्षा और सुरक्षा का विचार प्रमुख है राष्ट्र का मुख्य पुरुषार्थ मानो इसी में सम्पूर्ण हो जाता है। इसी टेक की सीध में अपने प्रभाव विस्तार और विजय विस्तार की बात सूझा करती है। राष्ट्र के रूप में दूसरा कोई आदर्श ही माना सगत नहीं रह जाता। राज्य को विभूतिमय बनाना और राजयों के लिए ठाट-बाट जुटाना जरूरी होता है अन्यथा देश अपने को महिमान्वित नहीं मान पाता। उसका ऐश्वर्य बढ़ा-चढ़ा न हो तो मानो यह हीनता का प्रमाण हो जाता है। अर्थात राज्य को अपनी अस्मिता का गर्व रखना ही चाहिये। प्रतिस्पर्धा में अपने दर्प को किसी से दोयम मानना उसके लिये क्षम्य नहीं हो सकता है।

इस पद्धति से औसत नागरिक मनुष्य पर दो तरह के खिचाव काम करने लगते हैं। वैयक्तिक क्षेत्र में उसके लिए आदर्श धर्म नैतिक रहता है पारस्परिक क्षेत्र में मानो वही अर्थ-लौकिक हो जाता है। यदि राज्य का आदर्श खुली समृद्धि और सम्पन्नता का हो वैभव-ऐश्वर्य मान और प्रभुता का हो, तो नागरिक के लिए भी मानो मानमूल्य वही हो जाता है। परिणाम कि राजकीय स्तर पर प्रतिस्पर्धा और ईर्ष्या विद्वेष सामान्य मूल्य बन जाते हैं। सबको अपने लिए पदभोग चाहिये और सत्ता विभुता चाहिये। इस मूल्य-द्वैत की स्थिति में नैतिक मानो केवल मध्यम और अधम स्तर वालों के लिये ही रह जाता है उत्तम श्रेणी वह बनती है जो शक्ति का मूल्य मानती है और नैतिक में मूलतः विश्वास नहीं रखती है। यह श्रेणी नैतिक को केवल उपाय मानती है जिससे नीचे वालों का मर्यादित और संयत रखा जाय। उनसे काम लिया और कराया जाय और धन-सत्ता की सुविधा इधर अपनी ही ओर रोक रखी जाय।

ज्ञान और विज्ञान ने ऐसी परिस्थिति और मानसिकता का निर्माण कर दिया है कि मूल्यों और श्रेणियों का यह अन्तर अधिक चल नहीं सकता। ज्ञान प्राप्त हो गया है लगभग हमम से प्रत्येक को कि धन का विषम विभाजन प्रकृत नहीं कृत्रिम है। और जब तक यह रहता है तब तक मानव सम्बन्धों में अन्याय भी समाया रहता है। स्वस्थ समाज यदि होगा तो वह होगा जिसमें समाज-शरीर के अवयवों अथवा वर्गों-श्रेणियों में अन्याय का यह तनाव नहीं होगा, उनमें

मानों की रक्षा के अथ रोक-थाम के उपाय, जिसे कानून कहते हैं, बनाता और अपनाता है। पर उसी तरह राष्ट्र भी अनेक हैं और परस्परता के बिना उनमे आज किसी का काम नही चल सकता। लेकिन अतर्राष्ट्रीय सम्बन्धो मे नतिक मूल्यों की उतनी सगति नही समझी जा रही है। प्रत्यक स्वतन्त्र और प्रभुसत्ताशाली है और जिन भी उपायो से सम्भव हो जल्दी से जल्दी बलशाली बन जाना चाहता है। बल का आशय पडोसी से प्रबल। इस अतर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे हमारी कल्पना इससे ऊचे जा ही नही पाती है। सबके लिए जो स्वय बलिदान का जीवन अपनाता है वह व्यक्ति श्रेष्ठ बनता है, लेकिन राष्ट्र की श्रेष्ठता और सफलता के लिए भी बलिदान की यह नीति हो सकती है यह बात किसी तरह हमारे मन मे नही बठती। मालूम होता है कि राष्ट्र के लिए तो स्वरक्षा और सुरक्षा का विचार प्रमुख है राष्ट्र का मुख्य पुरुषाथ माना इसी मे सम्पूण हो जाता है। इसी टक की सीध म अपने प्रभाव विस्तार और विजय विस्तार की बात सूझा करती है। राष्ट्र के रूप म दूसरा कोई आदश ही मानो सगत नही रह जाता। राज्य को विभूतिमय बनाना और राजन्या के लिए ठाट-बाट जुटाना जरूरी होता है अन्यथा देश अपने को महिमान्वित नही मान पाता। उसका ऐश्वय बढा चढा न हो तो मानो यह हीनता का प्रमाण हो जाता है। अर्थात राज्य को अपनी अस्मिता का गव रखना ही चाहिये। प्रतिस्पर्धा म अपने दप को किसी से दोयम मानना उसके लिय क्षम्य नही हो सकता है।

इस पद्धति से औसत नागरिक मनुष्य पर दो तरह के निवाव काम करने लगते हैं। वैयक्तिक क्षेत्र में उसके लिए आदर्श धर्म नैतिक रहता है पारस्परिक क्षेत्र में मानो वही अय-लौकिक हो जाता है। यदि राज्य का आदर्श खुली समृद्धि और सम्पन्नता का हो, वैभव-ऐश्वर्य मान और प्रभुता का हो, तो नागरिक के लिए भी मानो मानमूल्य वही हो जाता है। परिणाम कि राजकीय स्तर पर प्रतिस्पर्धा और ईर्ष्या विद्वेष सामान्य मूल्य बन आते हैं। सबको अपने लिए पदभोग चाहिये और सत्ता विभुता चाहिये। इस मूल्य-द्वैत की स्थिति में नैतिक मानो केवल मध्यम और अधम स्तर वालों के लिये ही रह जाता है उत्तम श्रेणी वह बनती है जो शक्ति को मूल्य मानती है और नैतिक में मूलतः विश्वास नहीं रखती है। यह श्रेणी नैतिक को केवल उपाय मानती है जिससे नीचे वालों को मर्यादित और संयत रखा जाय। उनसे काम लिया और कराया जाय और धन-सत्ता की सुविधा इधर अपनी ही ओर रोक रखी जाय।

ज्ञान और विज्ञान ने ऐसी परिस्थिति और मानसिकता का निर्माण कर दिया है कि मूल्यों और श्रेणियों का यह अन्तर अधिक चल नहीं सकता। ज्ञान प्राप्त हो गया है लगभग हममें से प्रत्येक को कि धन का विषम विभाजन प्रकृत नहीं कृत्रिम है। और जब तक यह रहता है तब तक मानव सम्बन्धों में अन्याय भी समाया रहता है। स्वस्थ समाज यदि होगा तो वह होगा जिसमें समाज-शरीर के अवयवों अथवा वर्गों-श्रेणियों में अन्याय का यह तनाव नहीं होगा, उनमें

इक्कावन

परस्पर समवाय और सौहाद होगा, और एक की सुविधा दूसरे की दुविधा नही बनेगी।

इसी तरह विज्ञान ने उठकर बता दिया है कि यहाँ ऊंचा और नीचा नही है, दूर और पास नही है प्रकृति की ओर से कोई बाधा और कृपणता नही है। वस्तु के अभाव का प्रश्न ही नहीं है कारण, अणु में भी परम है। समय और स्थान का अन्तर अन्तर नहीं है और अगर कष्ट है तो विज्ञान के कारण नही, बल्कि उसके अमुक उपयोग और स्वामित्व के कारण है। विज्ञान की उपलब्धि अब सीमित नही रहने वाली है सुलभ हो जाने वाली है और ऐसी सुविधायें बनती जा रही है कि व्यक्ति मात्र उन उपलब्धियों से अवगत हो जाए और किसी भी हालत म वह परित्यक्त बनकर रहना सहन न करे।

इस अवस्था मे व्यवस्था का वतमान रूप विस्फोट से यदि सब कुछ इस बीच विध्वस नही हो गया तो, अधिक काल रह नहीं सकता है। सारी धारणा में हेर फेर लाना होगा और जान पडता है कि मानव-एकता अधिक अब काव्यादश मे लोक की कल्पना नही रह जाएगी, बल्कि व्यावहारिकता बन आएगी। राष्ट्रो की सत्ता मानवता से निरपेक्ष न होगी और मानव-मूल्यों को प्रभुसत्ता प्राप्त होगी। आज नहीं समझ म आता है कि विभुसत्ता अमुक कायकारी-यत्र (गवनमट) स अयत्र रह कसे सकती है—सत्ता को स्थूल तत्र के रूप मे देखने के हम इतने आदी हैं। लेकिन मानयात करण जसी शक्ति का

बोध आज भी होने लगा है। विश्व-लोकमत जसी चीज आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय प्रभाव क्षेत्र म सगत होन लगी है। राजनीतिक सत्ता के स्तर पर भी अनुभव किया जाने लगा है कि 'ह्यूमन फाश्यन्स' जसा कोई तत्व है अपनी जगह वह अमोघ है, और उसका उपेक्षा में रखकर अधिक चला नही जा सकता है।

इस भावात्मक सत्य के अनुरूप कोई सत्वशील सस्था वतमान विश्व-व्यवस्था के बीच उदय मे आए, इसमे समय लग सकता है। लेकिन ज्ञान विज्ञान के अद्यतन उत्कष के प्रका" मे मानवान्त करण की उस भावात्मक सत्ता से इन्कार किसी प्रकार नहीं किया जा सकता है। प्रत्यक राष्ट्रनेता और राज्य सत्ता को घोषित और प्रमाणित करना पडता है कि युद्ध मे भी वह नृ शसता से बचता है और अन्तर्राष्ट्रीय मर्यादाओ का पालन करता है। राजनीतिक विवाद से वातावरण को अनिश्चित और आक्रान्त ही न कर दिया जाय तो सत्य और "याय की वाणी मे आज भी बल है। सत्य और "याय की निष्ठा मानव-हृदय म इतनी गहराई पर बद्धमूल है कि वह शक्ति, यदि उदय म लाई जाय तो अमोघ हो सकती है। राष्ट्रीय स्वार्थों के विग्रह में राजनीतिक ने मानव दृष्टि को ऐसा चारा रखा है कि यह शक्ति जाग नही पाती है। सत्य असत्य न्याय अ याय को पपने म डाल दिया जाता है और यह मानवता जो राज-नीतिक स्वार्थों के विग्रह की छाया मे युद्ध थम और प्रम म रह ी है जो एक दूसरे के निा जी रही और एक दूसरे को थाम रही है बौद्धिक के इस बुद्धि भेद के नीचे विस्मित और

परस्पर समवाय और सौहार्द होगा, और एक की सुविधा दूसरे की दुविधा नहीं बनेगी।

इसी तरह विज्ञान ने उठकर बता दिया है कि यहाँ ऊँचा और नीचा नहीं है, दूर और पास नहीं है, प्रकृति की ओर से कोई बाधा और कृपणता नहीं है। वस्तु के अभाव का प्रश्न ही नहीं है कारण, अणु में भी परम है। समय और स्थान का अन्तर अन्तर नहीं है और अगर कष्ट है तो विज्ञान के कारण नहीं, बल्कि उसके अमुक उपयोग और स्वामित्व के कारण है। विज्ञान की उपलब्धि अब सीमित नहीं रहने वाली है, सुलभ हो जाने वाली है और ऐसी सुविधायें बनती जा रही हैं कि व्यक्ति मात्र उन उपलब्धियों से अवगत हो जाए और किसी भी हालत में वह परित्यक्त बनकर रहना सहन न करे।

इस अवस्था में व्यवस्था का वर्तमान रूप विस्फोट से यदि सब कुछ इस बीच विध्वंस नहीं हो गया तो, अधिक काल रह नहीं सकता है। सारी धारणा में हेर-फेर लाना होगा और जान पड़ता है कि मानव-एकता अधिक अब काव्यादर्श के लोक की कल्पना नहीं रह जाएगी, बल्कि व्यावहारिकता बन आएगी। राष्ट्रों की सत्ता मानवता से निरपेक्ष न होगी और मानव-मूल्यों को प्रभुसत्ता प्राप्त होगी। आज नहीं समझ में आता है कि विभुसत्ता अमुक कार्यकारी-यंत्र (गवर्नमेंट) से अयंत्र रह कैसे सकती है—सत्ता को स्थूल तंत्र के रूप में देखने के हम इतने आदी हैं। लेकिन मानसांतःकरण जैसी शक्ति का

बोध आज भी होने लगा है। विश्व-लोकमत जैसी चीज आधुनिक अंतर्राष्ट्रीय प्रभाव क्षेत्र में सगत होने लगी है। राजनीतिक सत्ता के स्तर पर भी अनुभव किया जाने लगा है कि 'ह्यूमन कान्शयस' जैसा कोई तत्व है अपनी जगह वह अमोघ है, और उसकी उपेक्षा में रहकर अधिक चला नहीं जा सकता है।

इस भावात्मक सत्य के अनुरूप कोई सत्वशील संस्था वर्तमान विश्व-व्यवस्था के बीच उदय में आए, इसमें समय लग सकता है। लेकिन ज्ञान विज्ञान के अद्यतन उत्कर्ष के प्रकाश में मानवान्तःकरण की उस भावात्मक सत्ता से इन्कार किसी प्रकार नहीं किया जा सकता है। प्रत्येक राष्ट्रनेता और राज्य सत्ता को घोषित और प्रमाणित करना पड़ता है कि युद्ध में भी वह नृशंसता से बचता है और अन्तर्राष्ट्रीय मर्यादाओं का पालन करता है। राजनीतिक विवाद से वातावरण को अनिश्चित और आक्रान्त ही न कर दिया जाय तो सत्य और न्याय की वाणी में आज भी बल है। सत्य और न्याय की निष्ठा मानव हृदय में इतनी गहराई पर बद्धमूल है कि वह शक्ति यदि उदय में लाई जाय तो अमोघ हो सकती है। राष्ट्रीय स्वार्थों के विग्रह में राजनीतिकों ने मानव दृष्टि को ऐसा घेरा रखा है कि यह शक्ति जाग नहीं पाती है। सत्य-असत्य न्याय अन्याय को धपले में डाल दिया जाता है और यह मानवता जो राजनीतिक स्वार्थों के विग्रह की छाया में शुद्ध धर्म और प्रेम में रह ही है, जो एक दूसरे के लिए जो रही और एक दूसरे को थाम रही है, बौद्धिकों के इस बुद्धि भेद के नीचे विभिन्न और

निरेपन

विभ्रात बनी रह जाती है। वह मानवता सुनती है विज्ञप्तियों और वक्तव्यों को कि सब विवाद विग्रह उन्ही के हित म किया जा रहा है यद्यपि वह उस विवाद-विग्रह को अपने हित से किसी तरह जोड नही पाती है। पर इस तरह मानवता को कब तक बिसराये रखा जा सकेगा ? कब तक राष्ट्रीयता के नाम पर उसे सुलाए रखा जा सकेगा ? राष्ट्र ऊपर स नही बने है उनको अलग करने वाली लकीरें धरती पर कटी और खुदी हुई नही हैं, सीमाए हमने मानी हैं और ये आपसी सुविधा-व्यवस्था के काम आने के लिए आती हैं। उन्ही को जब मानवता की काट छाँट के काम मे लाया जाता है तो अवश्य कही कोई बहुत बडी भूल है, या बहुत बडा षडयन्त्र है।

इस विराट मनोदर्शन और मनोभाव की भूमिका पर राष्ट्रवाद और राष्ट्र राज्य को तनिक कसकर देखना होगा और अत मे यदि आवश्यक हो तो उन्हें अपनी खरी कसौटी के अनुकूल बनाना होगा। व्यक्ति का वह विकास और विस्तार जो दूसरे को दलता और कुचलता है इष्ट और सह्य नही माना जा रहा है। प्रकट होता जा रहा है कि व्यक्ति की ऐसी उन्नति वास्तविक नही होती प्रतिक्रियात्मक होती है। समाज वह स्वस्थ है जहा व्यक्तियो का हित परस्पर टकराता नहीं है, विरोधात्मक नहीं है बल्कि वह परस्परावलम्बी और सहयोगात्मक है। यही धारणा राष्ट्रो क सम्बन्ध म भी हम विकसित करनी होगी और उनक अस्तित्व के स्वरूप उत्कर्ष को भी उसी नतिक मान म देखना मानना-परखना होगा। तब कोई बहुत सम्पन्न हो सकता है ठाक जस कि अमुक व्यक्ति अतिशय

धनाढ्य हो सकता है। लेकिन न व्यक्ति की वह धनाढ्यता, न देश की वसी समृद्धि अपने आप में स्पृहणीय है। उस धनाढ्यता से समाज म विषमता बनती है और उस प्रकार की राष्ट्रीय सम्पन्नता से विश्व मे अशान्ति का कारण पैदा होता है।

किन्तु जिस जीवन दृष्टि और जीवन-पद्धति को व्यक्तिगत सम्बन्धो म हम हेय मान चुके हैं और क्रमश जिसका परिहार करते आ रहे हैं उसी को राष्ट्र-सदर्भ मे हमने विधेय और उपादेय बना रखा है। ऐसा मान कर चला जा रहा है कि जसे यह अपरिहार्य हो और राष्ट्र के लिए उत्कर्ष-बोधक हो। जिन अहिंसा और अपरिग्रह आदि सिद्धान्त को व्यक्ति-सम्बन्धो म हम उचित और उपयोगी ठहरा चुके हैं, मानों राष्ट्रो के सम्बन्ध म वही नितान्त असगत हो जाते हैं। मनुष्य के विषय मे हमे यह देखने और समझने मे कठिनाई नही है कि उसे अपने पड़ोसी के हित की कीमत पर फूलना नही चाहिए न उसके और अपने बीच म कोई काट की दीवार खडी की जानी चाहिए। सामान्य सामाजिक व्यवहार बल्कि बनाता है कि उन दोनो के द्वारों पर एक-दूसरे के लिये स्वागत लिखा रहना चाहिये और एक-दूसरे की उपस्थिति उनके लिये हर्ष और आह्लाद का विषय होना चाहिए। राष्ट्रो के बारे म हमारा व्यवहार ठीक इससे उल्टा होता है। सीमाओ पर सनद्ध फौजें न हो तो मानो यह सुरक्षा-नीति की त्रुटि है और खतरे का सूचक या कारण है। विकासशील जीवन की आवश्यकताए यद्यपि आदान सम्पर्क और आवागमन का रुख और घनिष्ट करती जा रही है

तथा

तो भी सीमा की यह सुरक्षा का प्रश्न राष्ट्र राज्यो के लिए मुख्य चिन्ता का विषय बना रहता है। सीमा के इधर-उधर सरकार बदल जाती है, निगरानी बदल जाती है। इस सरकार और सिक्के की बदली का भरपूर लाभ लेकर भ्रष्टाचार और अपराध बढ़ते हैं। अपराध एक सीमा के पार दण्डनीय नही रह जाता है और सिक्के की अदल-बदल म से तो सकडा-हजारो बिना कुछ श्रम-उद्यम के मालामाल बन जाते हैं। राष्ट्रों की स्वतन्त्रता सन्नद्धता के नाते ही परस्पर सुरक्षित बनी रहती है, नही तो एक दूसरे के लिए खतरा समझी जाती है। वीजा के दामो मे इस सीमा के अन्तर से बेहद ऊंच-नीच आ सकती और भ्रष्टाचार को जन्म दे सकती है। व्यवस्था का यह रूप कि जहा मानी हुई लकीर भर के भेद से कीमतो म एक और दस का अन्तर पड जाता है शान्ति और समाधान कसे ला सकता है। किन्तु राष्ट्र राज्य के पास मानो उपाय नही ह राष्ट्र की एकता राज्य के अधीन बनती ह और माना जाता ह कि वह एकता अखड और पुष्ट बनेगी तो उसके लिए राज्य क यन्त्र और तन्त्र को भी उतना ही दृढ और चौकस बनना होगा। ऐसे उस तन्त्र का शरीर बहुत फूल और फल जाता ह और उसकी खुराक और दूसरी जरूरतें भी बढ़ती चली जाती हैं। यह तन्त्र पदा नही करता केवल व्यवस्था करता ह। इस तरह उत्पादन पर इस बढ़ते हुए तन्त्र के उपभोग का बोझ बढ़ता जाता ह। उत्पादक दबता ह और अनुत्पादक उस पर सवारी गाँठ कर ऊचा उठता जाता ह। ऐसी अवस्था मे उस सारे उच्च वग के लिए सरकार एक स्थापित स्वाथ बन जाती है। इस स्वाथ द्वत पर खडा राष्ट्रवाद मानो समाज को ऊच नीच

के दो स्तरा म बाट देता है। श्रमजीविया का नीच वग, बुद्धि-जीवियो का उच्च वग। श्रमजीवियो का स्वाथ कटा-बटा नही है वह मानव-जाति भर का एक और अखड है। किन्तु बुद्धि जीविया के लिये अखड मानवता स्वप्न रूप मे कितनी भी प्रिय हो, यथाथ म उनके स्वाथ के साथ निभ नही पाती है। इसलिये राष्ट्र का वह वाद जो पृथकता और प्रतिस्पर्धा म ही जिए, और फल फूले, उन्हें अपने अनुकूल पडता है और इसीलिए उसका चढ़वाए रखा जाता है।

क्या यह असभव है कि राष्ट्र की एक अविरोधी धारणा हो और विकास इस रूप मे हो कि पास-पडोस के राष्ट्रा म हितसय बढ़े, कि वे परस्पर के लिए आश्वासन हो, आशका न बनें ?

अपने देश भारत को ही लीजिए। भारत एक अखड कल्पना है और सहस्रो वर्षों पीछे तक गया उसका इतिहास है। उसका अस्तित्व सफल और गौरवपूर्ण रहा है और उसकी सस्कृति अविच्छिन्न और अजस्र रही है। किन्तु यह भारत क्या था ? प्रकृति की ओर स जो सीमा बन गई वह तो थी, लेकिन जहा वह सीमा प्रकृति ने ही बना कर नही दी थी वहां भारत की सीमाए बराबर इधर से उधर होती गई। कभी अफगा निस्तान पूरा इसम था आज लाहौर भी नही है। इन राज नीतिक परिवतना और हलचला क नीचे किन्तु कुछ था जो अडिग बना रहा—असल भारत वह था। आपस के मिल-जुल रहन-सहन म स विकसित हुआ वह एक मानसिक, सास्कृतिक

स्वरूप था जो सदियों से अन्तराल से अभग टिका चला आया। उसे किसी से ईर्ष्या न हो सकती थी न द्वेष और बस वह अपनी रचनात्मक निष्ठा में ही सम्पन्न निष्पन्न था। इस भारत की किसी से टक्कर नही हो सकती थी, न किसी पर उसका आक्रमण हो सकता था। उसकी स्वत्व रक्षा के लिए निषेध प्रतिषेध की आवश्यकता न थी। तत्व बाहर से आकर जो मिल खप जाते थे वे मूल को और पुष्ट ही करते थे उसकी अत प्रकृति को विविध और समृद्ध बना जाते थे। अनमिल रहते, वे तत्व मानो अपने आप झर जाते थे। बुद्ध यहा हुए किन्तु बौद्ध परिव्राजकों को ऐसा नही मालूम हुआ कि स्वदेश से वे विदेश जा रहे हैं। विस्तार सहज भाव से होता गया किसी को नष्ट कर जसा हुआ ही नही। यह विस्तार था जिसमें दोनो ओर एक समान पुरुषार्थ का जागरण हुआ।

राष्ट्र इस प्रकार एक सम-सामान्य जीवन की सांस्कृतिक इकाई का नाम हो सकता है। इकाई कहने का आशय किसी बद्ध घटक का नही है, सांस्कृतिक विशेषण का अभिप्राय ही यह है कि एकता है, किन्तु परस्परता उसे इष्ट है पथक्ता उसे प्रिय नहीं है। यह हर दूसरे की ओर योगभाव से बढ़ने की वृत्ति स्वार्थिक अथवा राजनीतिक नही रहती, पारमार्थिक और नैतिक हो जाती है। राजनीति समाप्त तो नही हो सकती उसके बीज मानव प्रकृति में पड़े हैं। लेकिन राष्ट्र के नाम पर विराट सेना-शस्त्र-सन्नद्ध होकर चुनौती देते हुए दम्भ के साथ किसी जय-यात्रा पर बढने की आवश्यकता उसके लिए नही रहती।

इतिहासकारो का शिकायत है कि भारत पहले राष्ट्र न था, राष्ट्र तो अब आकर वह अग्रेजा के आगमन के बाद बना है। शायद शिकायत ठीक हो। राष्ट्र की वह धारणा जहा राजा एक होता है, जो हर राष्ट्र से पृथक और प्रतिस्पर्धी होता ह भारत के पास न थी। न उसकी धम धारणा ही ऐसी एकात थी। धम अक्सर प्रमुख व्यक्ति और सिद्धात-वाद को लेकर गठित होता ह उसी प्रकार राष्ट्र एक राजा और एक केन्द्रस्थ शासन-तन्त्र को लेकर रूप पाता ह। ये दोना धारणाए भारतीय स्वत्व के लिए आवश्यक नही हुई। धर्म भी यहाँ जीवन्त रहा, इसी तरह देश भी गरिमामय बना। किन्तु ये दोनों उसके लिए बद और सिमटी धारणाए न थी, उनकी निर्दिष्ट और कटी-जकडी सीमाए न थी। फिर भी समय उस देश धम को क्षति नहीं पहुँचा सका। हिन्द-देश और हिन्दू धम बिना किसी प्रकार प्राचीर की सहायता के प्रबल और प्रकाण्ड बनते चले गए।

प्रतीत होता ह कि राष्ट्र का व्यक्तित्व अगर राजनीतिक ही रहा तो विग्रह और युद्ध से बचने का कोई उपाय न हागा। कारण राजनीतिक रूप के लिए सत्ता के तन्त्र को फलते ही जाना होगा। फिर उस सत्ता के लिए अपना अस्तित्व ही सवप्रधान हाने लग जायेगा। सत्ता और जनता का सम्बन्ध शासक और शासित का बनेगा और शासनाथियो के आपसी मनमुटाव जनता की छाती पर दले और भुगताए जाते रहेंगे।

युद्ध की घोषणा कभी जनता म नहो आ सकती। जनता

तो उसमे झोकी और फूकी ही जाती ह। युद्ध की ज्वाला यदि फूटती ह तो सत्ताओ के आपसी स्वार्थों की रगड मे से ही फूटती ह। जनता के स्वाथ अनबन म आ ही नही सकते। फिर भी लाखा-करोडा की सख्या में विविध राष्ट्रवासी आपस में एक दूसरे को नेस्तनाबूद करने म लग जाते हैं, तो अवश्य कही कोई जादू या छल ह और शायद वह छल राष्ट्रवाद के उस रूप म से फलता है जो स्वत्व को परत्व के विरोधी रूप म ही देखता और साधता ह। पर बढते हुए विज्ञान के प्रकाश मे स्पष्ट ह कि इस स्व-परत्व में परस्परत्व का विकास न हुआ तो महानाश का तांडव ही होगा दूसरी सम्भावना नही रह जाएगी। सृजनशील परस्परत्व निजत्व के उस रूप मे से विकसित हो सकता ह जो अहम प्रमुख नही ह, जो स्वाजन से उठकर स्वापण की भापा म सोच सकता है जो दूसरे को अपने लिए ही नहीं समझता, अपने को भी दूसरे के लिए समझ सकता है।

राष्ट्र की और उसके उत्कप की यह कल्पना हमारे मानस पर उतर सकी तो उसका अथ होगा कि हमारी राजनीति और अथनीति मे एक साथ मौलिक परिवतन घटित हो। वह अतगत परिवतन राष्ट्रनीति को उत्तरोत्तर मानव-नीति के निकट लाकर दोनो को अभिन्न बना सकेगा। और यदि कोई एक भी राष्ट्र आज हिम्मत के साथ मानव-नीति के ध्रुव को अपनी आस्था और आचरण म उतार लेता है तो वह आज के विश्व सकट मे एक नई किरण का आविर्भाव कर सकत है। इस आस्था का परिणाम स्पष्ट ही राज्य को दण्ड-शस्त्रादि ॥

अधिकाधिक स्थूल-तंत्र बनाने की अपेक्षा उसे उत्तरोत्तर नीति-सक्षम इसलिए सूक्ष्म-तंत्र बनाने की दिशा में होगा। तब पैसे की प्रभुता श्रम से स्वतंत्र और विमुख नहीं रह जाएगी, बल्कि वह उत्तरोत्तर श्रमोन्मुख और अन्तत श्रमाधीन होगी।

पांच

एक दूसरे से पांच-सात मील दूर पर दसियो हजार आदमियो की दो पातें पडी है वे किच-बंदूक से लस हैं और मुकाबले को तयार है। वे फौजें एक दूसरे को देख नही पाती सिर्फ इन्तजार म रहती हैं। बस यही उनका काम है। पच्चीस पचास वर्ष बाद कही मुठभेड की नौबत आ जाय तो बात दूसरी है बाकी वर्षों-वर्ष बस उन्हें यही फर्ज है कि वे सगीन की नोक तान एक-दूसरे के मुकाबिले तनात और होशियार हालत म रहे। इसी काम के लिए उनके खातिर सब सुभीते जुटाये जाते हैं और पूरा सम्मान दिया जाता है।

पच्चीस-पचास वर्ष में जाकर दो एक दिन के काम के लिए उन्हें कौन इस तरह आमादा और सुख-सुभीत की सामग्री स

भरपूर रखता है ? किसकी ओर से वे हजारों लाखों आदमी इस निगरानी पर तनात रहते और दूसरे सब उपयोगी के कामों से बरी रहते हैं ? किसके हुक्म पर ? कौन उनके लिए सामग्री जुटाता और मान-सम्मान, इनाम इकराम का इन्तजाम करता है। जो यह सब करता है उसको राज्य कहते हैं।

राज्य यह सब इन्तजाम रखने के लिए रसद और पसा कहा से जुटाता है ? जिनकी मेहनत में से यह सब लिया जाता है, उन्हें प्रजा कहते हैं।

बरसा-बरस पालो और तयार रह जाकर जो आखिर चद रोज के लिए मरने-मारने का काम करता है वह सनिक है। जो बप के बारहा महीने और महान के तीसो दिन और दिन के दसियो घटे बराबर मेहनत किये जाकर सनिको के लिए सामान जुटाये रखता है वह नागरिक कहलाते हैं।

अद्यतन स्थिति यह है कि राज्य के सारे बजट का तिहाई या उससे अधिक भाग सुरक्षा के विभाग और सुरक्षा सन्य के पत्र म सुरक्षित रखा जाता है। यह हालत इसलिये है कि दुनिया अनक राज्यो म बटी है और हर राज्य पूरी तौर पर खुद मुख्तार है। युद्ध या कोई उसकी तबीयत का रोकने वाला नही है और जो मूल्य सर्वोपरि है वह राज्य की स्वायत्तता और प्रभुसत्ता है। हर राज्य एक राष्ट्र का द्योतक है। हर राष्ट्र ऐसी खुदी है कि उसके ऊपर खुदा नहीं है। ऐसा ध्रुव स्वत्व है कि ऊपर नीति या धर्म का कोई अकुश नही हो सकता है।

क्य। यह आवश्यक होता है कि मानव जाति के सम्मिलित श्रम का एक बहुत बडा भाग आतंक को बचाने या बढाने के व्यर्थ काम मे ही स्वाहा हो जाता है ? अपने बीच मे इस भय और आतंक को कायम रखने की अनिवार्यता मानवता के लिए क्यो बनी ही चली जा रही है ? क्यो नही हो पाता है कि बीच म से खतरा हटे और विश्वास उत्पन्न हो ? गरियत की जगह उनमे पारस्पय हो सशय की जगह सहानुभूति हो, धमकी की जगह प्रीति और प्रहार की जगह सद्भाव हो ? क्यों न उनमे अभियोग की जगह सहयोग हो ?

सब मानते है कि यह होना चाहिये। स्पष्ट तर्क से सिद्ध है कि यह हो सकना चाहिए। फिर भी नही हो पाता है। कोई भय से मुक्त नही है और भय से बचाव के लिए भय के ही शस्त्रास्त्र बनाने बढाने को सब विवश हैं तो क्यो ?

कारण वही है राष्ट्र और राज्यकी बद और विरोधी धारणा।

भारत क हाल के इतिहास का घटना लें। भारत कोस्वराज्य लना था। यहां की राष्ट्रीय काँग्रेस को गाँधी न कहा कि हिंसा स आने वाला स्वराज्य उन्हें मजूर न होगा। राष्ट्रीय काँग्रेस को यह बात मान्य न हुई। उसे हर कीमत पर स्वराज्य कबूल था। वह तो गाँधी क सिवा कोई नेतृत्व उपलब्ध न था, इससे गांधी की बात तो नही रखी फिर भी कांग्रेस न गाँधी का नेतृत्व को अवश्य माने रखा। गाँधी मे समझाया कि हिंसा से आने वाला स्वराज्य पूरा स्वराज्य ही न होगा। सिर्फ जो राजनीतिक हो वह तो पूरा और असल होता नहीं आगे बढ़कर स्वराज

को समाजनीतिक और अर्थनीतिक भी होना चाहिए। उसे व्यक्ति-व्यक्ति तक पहुँचना चाहिए। पर कांग्रेस सिर्फ राष्ट्रीय थी, उसे राजनीतिक ही बस था। शेष अनायास और अपने आप होगा शायद ऐसी उसकी मान्यता रही हो। जो हो, स्वराज आने पर राजनीति में से नीति अलग हुई और राज अलग रह गया। राजकीय मानो नीति शून्य होने का स्वतन्त्र हो गया और उधर नीति इतनी उपदेशकीय बन गई कि राजकीय सामर्थ्य से शून्य हो आई।

राष्ट्र या राज्य की धारणा को जब हम केवल पार्थिव लौकिक रूप में ही लेते हैं, जब हम अमुक राष्ट्रीय स्वार्थ को मानवीय परमार्थ से हटे एक स्वतन्त्र स्वत्वाधिकार के रूप में देखने लग जाते हैं, तो ऊपर की वही दुर्घटना घटित होती है। राज्य स्वयं प्रतिष्ठ हो जाता है और नीति शास्त्र के पन्नों के लिए बच रहती है। शक्ति नीति से निरपेक्ष हो जाती है और समर्पण या धर्म भूल जाने पर उसके लिए सिर्फ डिफेन्स डिफेन्स का ही एक धर्म शेष रह जाता है।

यह एक समूची धारणा है। राज्य को जब हम उस रूप में—निर्लिप्त सन्नद्ध संघटना के रूप में—देखते और चाहते हैं तो समाज और अर्थ रचना का भी तदनुकूल आयोजन संयोजन हम सूझता है। एक व्यवस्था खड़ी होती है जिसे नेशनल इकोनमी माना जाता है। उसमें समाज की विविध प्रवृत्तियों का ऐसा नियमन होता है कि जिससे राष्ट्र राज्य या तन्त्र सम्पन्न एवं बलशाली हो। तब आदमी का जन-जन के रूप में

क्य ।यह ग्रावश्यक होता है कि मानव जाति के सम्मिलित श्रम का एक बहुत बड़ा भाग आतंक को बचाने या बढ़ाने के व्यय काम में ही स्वाहा हो जाता है ? अपने बीच में इस भय और आसक को कायम रखने की अनिवार्यता मानवता के लिए क्यो बनी ही चली जा रही है ? क्यों नहीं हो पाता है कि बीच म से खतरा हटे और विश्वास उत्पन्न हो ? गरियत की जगह उनमें पारस्पय हो सशय की जगह सहानुभूति हो, धमकी की जगह प्रीति और प्रहार की जगह सद्भाव हो ? क्यो न उनम अभियोग की जगह सहयोग हो ?

सब मानते है कि यह होना चाहिये । स्पष्ट तक से सिद्ध है कि यह हो सकना चाहिए । फिर भी नही हो पाता है । कोई भय से मुक्त नही है और भय से बचाव क लिए भय के ही शस्त्रास्त्र बनाने बढाने को मब विवश हैं तो क्या ?

कारए वही है राष्ट्र और राज्यकी बद और विरोधी धारणा।

भारत क हाल के इतिहास की घटना लें। भारत कोस्वराज्य लना था । यहाँ की राष्ट्रीय काँग्रेस को गाँधी ने कहा कि हिसा से माने वाला स्वराज्य उन्हें मजूर न होगा । राष्ट्रीय काँग्रेस का यह बात मान्य न हुई । उसे हर कीमत पर स्वराज्य कबूल था । वह तो गाँधी क सिवा कोई नतृत्व उपलब्ध न था इसस गाधी की बात तो नही रखी फिर भी कांग्रेस ने गाँधी क नतृत्व को अवश्य माने रखा । गाधी न समझाया कि हिंसा से पाने वाला स्वराज्य पूरा स्वराज्य हो न होगा । सिफ जो राजनीतिक हो वह तो पूरा और असल होता नही आगे बढ़कर स्वराज

का समाजनीतिक और अर्थनीतिक भी होना चाहिए। उसे व्यक्ति-व्यक्ति तक पहुँचना चाहिए। पर कांग्रेस सिर्फ राष्ट्रीय थी, उसे राजनीतिक ही बस था। शेष अनायास और अपने आप होगा शायद ऐसी उसकी मान्यता रही हो। जो हो, स्वराज आने पर राजनीति में से नीति अलग हुई और राज अलग रह गया। राजकीय मानो नीति शून्य होने को स्वतन्त्र हो गया और उधर नीति इतनी उपदेशकीय बन गई कि राजकीय सामर्थ्य से शून्य हो आई।

राष्ट्र या राज्य की धारणा को जब हम केवल आर्थिक लौकिक रूप में ही लेते हैं, जब हम अमुक राष्ट्रीय स्वार्थ को मानवीय परमार्थ से हटे एक स्वतन्त्र स्वत्वाधिकार के रूप में देखने लग जाते हैं, तो ऊपर की वही दुर्घटना घटित होती है। राज्य स्वयं प्रतिष्ठ हो जाता है और नीति शास्त्र के पन्नों के लिए बच रहती है। शक्ति नीति से निरपेक्ष हो जाती है और समर्पण का धर्म भूल जाने पर उसके लिए सिर्फ आफेन्स डिफेन्स का ही एक धर्म शेष रह जाता है।

यह एक समूची धारणा है। राज्य को जब हम उस रूप में—चलिष्ठ सम्बद्ध संघटना के रूप में—देखना और चाहते हैं तो समाज और अर्थ रचना का भी तदनुकूल आयोजन स्वयमेव हम सूझता है। एक व्यवस्था खड़ी होती है जिसे 'नेशनल इकोनमी' माना जाता है। उसमें समाज की विविध प्रवृत्तियों का ऐसा नियमन होता है कि जिससे राष्ट्र राज्य या तन्त्र सम्पन्न एवं बलशाली हो। तब आदमी का जन-जन प

श्रम। यह ग्रावश्यक होता है कि मानव जाति के सम्मिलित श्रम का एक बहुत बड़ा भाग आतंक को बचाने या बढ़ाने के व्यर्थ काम में ही स्वाहा हो जाता है ? अपने बीच में इस भय और आतंक को कायम रखने की अनिवार्यता मानवता के लिए क्यों बनी ही चली जा रही है ? क्या नहीं हो पाता है कि बीच में से खतरा हटे और विश्वास उत्पन्न हो ? गारियत की जगह उनमें पारस्पय हो संशय की जगह सहानुभूति हो, धमकी की जगह प्रीति और प्रहार की जगह सद्भाव हो ? क्यों न उनमें अभियोग की जगह सहयोग हो ?

सब मानते हैं कि यह होना चाहिये। स्पष्ट तर्क से सिद्ध है कि यह हो सकना चाहिए। फिर भी नहीं हो पाता है। कोई भय से मुक्त नहीं है और भय से बचाव के लिए भय के ही शस्त्रास्त्र बनाने बढ़ाने को सब विवश हैं, तो क्यों ?

कारण वही है राष्ट्र और राज्यकी बद और विरोधी धारणा।

भारत के हाल के इतिहास की घटना लें। भारत कोस्वराज्य लेना था। यहाँ की राष्ट्रीय कांग्रेस को गांधी ने कहा कि हिंसा से आने वाला स्वराज्य उन्हें मंजूर न होगा। राष्ट्रीय कांग्रेस को यह बात मान्य न हुई। उसे हर कीमत पर स्वराज्य कबूल था। वह तो गांधी के सिवा कोई नेतृत्व उपलब्ध न था, इससे गांधी की बात तो नहीं रखी फिर भी कांग्रेस ने गांधी के नेतृत्व को अवश्य माने रखा। गांधी ने समझाया कि हिंसा से आने वाला स्वराज्य पूरा स्वराज्य ही न होगा। सिर्फ जो राजनीतिक हो वह तो पूरा और असल होता नहीं, आगे बढ़कर स्वराज

का समाजनीतिक और अर्थनीतिक भी होना चाहिए। उसे व्यक्ति-व्यक्ति तक पहुँचना चाहिए। पर कांग्रेस सिर्फ राष्ट्रीय थी, उसे राजनीतिक ही बस था। शेष अनायास और अपने आप होगा शायद ऐसी उसकी मान्यता रही हो। जो हो, स्वराज आने पर राजनीति में से नीति अलग हुई और राज अलग रह गया। राजकीय मानो नीति शून्य होने को स्वतन्त्र हो गया और उधर नीति इतनी उपदेशकीय बन गई कि राजकीय सामर्थ्य से शून्य हो आई।

राष्ट्र या राज्य की धारणा को जब हम केवल प्रायिक लौकिक रूप में ही लेते हैं, जब हम अमुक राष्ट्रीय स्वार्थ या मानवीय परमार्थ से छूटे एक स्वतन्त्र स्वत्वाधिकार के रूप में देखने लग जाते हैं, तो ऊपर की वही दुर्घटना घटित होती है। राज्य स्वयं प्रतिष्ठ हो जाता है और नीति शास्त्र में पढ़ने के लिए बच रहती है। शक्ति नीति से निरपेक्ष हो जाती है और समर्पण या धर्म भूल जाने पर उसके लिए सिर्फ डिफेन्स डिफेन्स या ही एक धर्म शेष रह जाता है।

यह एक समूची धारणा है। राज्य को जब हम उस रूप में—बलिष्ठ सन्नद्ध संघटना के रूप में—देखते और चाहते हैं तो समाज और अर्थ रचना का भी तदनुकूल आयोजन संयोजन हम सूझते हैं। एक व्यवस्था खड़ी होती है जिसे नेशनल इकोनोमी माना जाता है। उसमें समाज की विविध प्रवृत्तियों का ऐसा नियमन होता है कि जिससे राष्ट्र राज्य का तन्त्र सम्पन्न एवं बलशाली हो। तब आदमी को जन-जन के रूप में

नहीं जनता क रूप म देखा जाता है और उसका व्यक्तित्व आनुषंगिक एव गौण पड जाता है प्रधान गुट और समूह होने लगते हैं।

मानव जाति का यदि कभी एक होना है--और ज्ञान विज्ञान की प्रगति को देखते हुए यह आसन्न भविष्य में ही अनिवार्य दीखता है—तो उसके आदि और ध्रुव घटक के रूप म मानव व्यक्ति का स्वीकार करना होगा, देश और राष्ट्र आदि धारणाओं को मानव-व्यक्ति-निरपेक्ष बनने से बचाना होगा। सामूहिक सज्ञाएं जब स्वय सिद्ध मूल्य प्राप्त करने लग जाती हैं, तब मानव-नीति का सदर्भ उनसे छूट जाता है। तब मानो समुदाय क लिए व्यक्ति हो चलता है समुदाय व्यक्ति के लिए नहीं होता है।

मूलत हमारा यह बौद्धिक युग इसी भूल म चल रहा है। मानसिक सज्ञाओं धारणाओं और आदर्शों सिद्धांतो को हमने एकांत (ऐब्सोल्यूट) भाव स मान लिया है। लक्ष्य को फिर उन्हीं म प्रतिष्ठित करके मानव-व्यक्ति का उपयोग और उत्सर्ग लेना आरम्भ कर दिया है। इस तरह जातीय और राष्ट्रीय मानवीय से उलटा पडता चला गया है और अन्त म दीख पड रहा है कि राष्ट्र जितने सम्पन्न और समृद्ध होते हैं मानव-सकट वहां उतना ही उत्कट होता जाता है।

इसका उपाय यही है कि हमारी सस्थाओं और सघटनाओं की रचना इस प्रकार हो कि मूल मानव व्यक्ति का उसम

स्वीकार और समादर समाया हो केवल मात्र उसका उपयोग और उपयाजन इष्ट न हो।

वैज्ञानिक दृष्टि के अधीन मानव-जीवन और मानव-समाज को व्यवस्थित सयोजित करने के प्रयत्न में हमने मानव घटक के साथ उसी प्रकार व्यवहार करना शुरू कर दिया है जैसे मकान बनाते वक्त ईट का उपयोग किया जाता है। ईट को आसानी से हम छील-छालकर मनचाहा आकार दे देते हैं। पर मनुष्य मनस्वी है और किसी छीलने वाले के हाथो स्वय को देने का आसानी से इसलिए तयार नही है कि स्वय यह देखता है कि किसी छीलने का दावा करने वाले से भिन्न या अलग वह नहीं है। बढते हुए ज्ञान ने उसकी इस कदर आंखें खोल दी हैं कि जब यह अपने को इन्सान मानता है तो बडे-से-बडे राजा और नेता को भी वह अपनी तरह का इ ान ही मानता है। सामान्य को सामान्य और राजन्य को विशिष्ट राजकीय, इन दो विभिन्न कोटि की परिस्थितियो म रग कर अब यह नही माना जा सकता कि एक अपने का हीन माने रहगा और दूसरा स्वभावत उच्च। अन्तर मिट रहे हैं और कृत्रिमताए टूट रही हैं। इसलिए एक इसान कर्ता बन और दूसरा उसके हाथ म सिफ करण बनन को रह जाय, यह आगे सम्भव नही रहन वाला है। अर्थात केवल विज्ञान-सम्मत विनियोजन-प्रयाजन सामाजिक प्रवृत्तियो मे काम नही देगा। मनुष्य निश्चेतन पदाथ नही है और देखा जाता है कि जब वह स्वत प्रेरणा से कुछ करता है तो कितना ही कर जाता है, बेगार मे करना पडता है तो उसका दसवां हिस्सा भी नही कर पाता है।

इन अनुभवों से हम आन्तरिक क्षेत्रों में विवश हुए हैं कि उत्पादन संबंधी योजनाओं में श्रमिक के हित का और सुख का भी पूरा ध्यान रखें। ऐसा कुछ बराबर करते रहें जिससे श्रमजीवी में प्रेरणा बनी रहे। और काम को वह अपना काम समझे। ऐसा जब नहीं होता है तो उत्पादन के परिमाण में तत्काल क्षति दीखने लगती है। अर्थात मानसिकता से अलग व्यक्ति मनुष्य को लेना अथवा उसकी समस्याओं को केवल भौतिक विज्ञान की दृष्टि से सुलझाना सम्भव न हो सकेगा। प्रत्येक व्यक्ति में निजत्व है और जब अमुक समूह में उसके निजत्व को लीन मान लेते हैं तो बड़ी भूल कर जाया करते हैं। लीनता स्वेच्छित समर्पण में से तो प्राप्त होता है अन्यथा प्राप्त नहीं होती है। राजनीति और राष्ट्रनीति में अक्सर मानवीय व्यक्तित्वों का उपयोग तो हुआ करता है समर्पण अधिकांश वहां नहीं होता। परिणामतः राजनीति सदा अस्थिर रहती है और उस क्षेत्र में हमेशा हलचल मची दिखाई देती है।

व्यक्ति की निजता जबकि एक अपरिहार्य तथ्य है तब उसकी प्रकृति को भी समझने की आवश्यकता है। केवल निजता से तो निश्चय ही समाज नहीं बनता है। ग्राम भी ऐसे कोई नहीं बन सकता है। हर प्रकृति सहयोग माँगती है। परस्परता के बिना जीवन की कल्पना ही नहीं हो सकती। मनुष्य पशु की तरह से स्वाधीन नहीं जी सकता है। प्रकृति की ओर से ही वह ऐसा जनमा है कि उसे मिल-जुलकर जीना होता है। कंद-मूल या कच्चे अन्न-फल मांस से उसका भोजन नहीं हो जाता। न उसको ऐसी खाल खाल मिली है कि वस्त्र के बिना चल जाय। जीने

माग के लिए उसे उद्यम करना पडता है और अपने म से निकलकर परस्परता को जुटाना पडता है। यह पारस्पय मनुष्य या लक्षण है यही उसकी क्षमता है।

क्या यह सम्भव नही है कि अनिवाय यह उसका उद्यम इस तरह व्यवस्थित हो कि उसमे पडोसियो के हित आपस मे बिछुडे नही बल्कि जुडें। पशु निकला और जिस अन्य को देखा देखते ही शिकार बना डाला। क्या मनुष्य के लिए भी यही विधि जीने की मानी जायगी ? नही, मनुष्य का अपने जीवन के लिए समाज का विकास करना पडा है और अपनी निजता को परस्परता के अनुकूल ढालना पडा है। क्या आरम्भ मे ही एसा कुछ नही हो सकता है कि उसके रहन-सहन की प्राथमिक आवश्यकताए आपस के सहयोग द्वारा इस तरह पूरी हो कि उनम हित विरोध न पडने पाये, बल्कि हितक्य बढता जाए ?

सक्षेप म क्या ऐसी कोई 'नेशनल इकोनॉमी' नही हो सकती है जो मूलत 'ह्यूमन इकोनॉमी' भी हो ? यदि वह बुनियाद म ह्यूमन होती है तो यह सम्भावना कि राष्ट्रीय स्तर पर वह घमासान हो उठे, अपने आप घट जाती है। सहयोगात्मक की जगह जब हम प्रतिस्पर्धात्मक, दूसरे शब्दों म मनुष्य प्रधान से वस्तु-प्रधान, इकोनॉमी को अपनाते हैं तभी आगे जाकर झगडे-बखेडे खडे बनते हैं, और राष्ट्र राज्यो के तल पर आपस म युद्ध अनिवाय हो जाते हैं।

यहा वह बीज है जिसमे से युद्ध का विपफन फलित होना

उत्तरस्तर

है। यह स्पर्धाजन्य स्वार्थजन्य उद्यम-उद्योग की प्रथा है जिसमें से प्रतिक्षण आपसी वैर-विरोध और वैमनस्य के कीटाणु सृष्ट होते हैं वे ही बड़े-बड़े समुदाय-समूहों में संघटित होकर विग्रहों और युद्धों को जन्म दिया करते हैं। अपनी नित्य प्रति की जीवन-व्यवस्था में से हम कण-कण उस विष को उपजाते हैं जिसके मर्धीभूत उत्स्फोट से अन्त में स्वयं हम ही चकित बने रह जाते हैं।

गांधी अभी भारत में हो गये हैं। भारत देश उन्हें राष्ट्रपिता मानता है और साथ महात्मा भी कहता है। उनके नेतृत्व में भारत को स्वाधीन राष्ट्र का रूप मिला, पर स्वाधीता प्राप्त होने पर वह किसी राष्ट्र पद पर दिखाई नहीं दिये। जिस पद्धति से उन्होंने स्वराज्य दिलाया, उसमें तलवार के लिये जगह नहीं थी उसकी जगह बल्कि चर्खा था। उनका बल चर्खे पर इतना था कि शायद प्रार्थना पर ही उतना रहा हो। उन्होंने चरखे को राष्ट्रध्वज के केन्द्र में रखने को कहा।

पराधीन भारत में सात समुन्दर पार लंका शायर से कपड़ा आता था। खद्दर द्वारा सिर्फ उसको रोकने की ही बात न थी। उसके लिए तो कपड़े की मिलें खड़ी की जा सकती थी। बाद में वे मिलें हुई भी और अब हिन्दुस्तान कपड़ा मंगाता लगभग नहीं है ज्यादातर बाहर भेजता ही है। अर्थात् चर्खा केवल आर्थिक संयोजन का ही प्रतीक नहीं था बल्कि उसके पीछे आर्थिक से बड़ी एक पारमार्थिक दृष्टि भी थी। पारमार्थिक दृष्टि यह कि जीवन की प्राथमिक आवश्यकताओं की उत्पत्ति

ग्रोर पूर्ति इस प्रकार हो कि वितरण की पूंजीवादी समस्या न बने ग्रौर मानवी सम्बन्ध मूलत हितक्य के ग्राधार पर खडे हो, उनमें हित विग्रह ग्रौर श्रेणी विग्रह न उपजे। ग्रथ रचना का क्रम राष्ट्रीय से ग्रधिक मानवीय हो। इस ग्राधार पर खडा होने वाला राष्ट्र ग्रौर फिर उस राष्ट्र में से निष्पन्न होने वाला राजतत्र उत्तरोत्तर ऐसा हो सकेगा जिसका उत्कर्ष मानवता से ग्रविरोधी हो ग्रौर जो इसलिए हिंसा के उपकरणो की निर्भरता से मुक्त हो सके।

ग्राज के दिन गाधी को याद करना उपयोगी होगा। गाधी की सबसे बडी विशेषता इस सदर्भ मे यह है कि वह पूर्णत राष्ट्रीय ग्रौर राजकीय रहे, साथ ही उसी पूर्णता के साथ वह मानवीय ग्रौर जागतिक भी रह सके। राष्ट्रीय उनके साथ मानवीय का विरोध धारण नही कर सका ग्रौर राष्ट्रपिता ग्रौर एकच्छत्र राष्ट्रनेता होने के नाते उन्हें जगत् भर के लिए महात्मा बनने मे कोई कठिनाई नही हुई। कहीं ग्रादश द्विविधा की समस्या उन्हें नही हुई ग्रौर वे सब चुनौतिया उन्होंने लीं, उनका उत्तर दिया कि जिनका उपाय केवल हिंसा मे देखा जाता है।

राष्ट्र सत्ता को ग्रब सोवरेन माना तो जाता है पर हम जानते हैं कि ग्राज की विश्व स्थिति मे कोई देश एक ग्रकेला होकर नहीं जो रहा है, न जी सकता है। फिर भी सिद्धात म इस सोवरेन्टी की रक्षा करने ग्रौर उसका घोष रखने म से विश्व-व्यवहार में गाठें पड जाती हैं। जसा चाहिए वसा

मानव-जीवन प्रवाही नही रहता और जगह-जगह उस प्रवाह मे अवरोध पदा होते जाने के कारण सदा विस्फोट का सामान बना रहता है।

राष्ट्र सत्ता की इस सोवरेंटी के आधार पर बाहर अन्त र्राष्ट्रीयता म जो ग्रन्थिया पड़ती हैं उसके अतिरिक्त स्वय राष्ट्र के अन्तगत भी कम पच पदा नहीं होते हैं। एक राष्ट्र की सत्ता जब राज्य म अखण्ड बनती है तो देश के दूसरे अवयव और सस्थान अपने आपमें सत्ताहीन होकर आधीन और निभर बन जाते हैं। मानव-व्यक्ति आत्मवान और स्वत्वशील नही रहता है, बल्कि आनुषगिक कन्टिजेंट हो जाता है। इस पद्धति से राष्ट्र राज्य-सत्ता की धारणा क नीचे जो समाज फलित होता है वह अपने म विश्वस्त और स्वस्थ नही हो पाता और मानो उस समाज क सब सदस्य मानो गयी राज्य-सत्ता म स्थान पाने के आग्रही बनने लगते हैं। तब सघष पदा होता है लोग सृजनशील कत्तव्य स विमुख हो जाते हैं और सघष प्रिय राजनीति को अपना व्यवसाय बना उठते हैं। व्यक्तित्व की गरिमा ह्रस्व पड़ती है अ ो महिमा बढ़ जाती है।
समाज में आपसी सदभाव स सृष्ट हुई
सस्थाए राज्य है और र
काम चुनाव आगे कीवा
लगता है। सद नट जात है
सात्विक क ० है। यह
केवल इस का म
उसके प्रतीक र मा

ब,तर

सत्ता में से उठा दिया जाता है। परिणाम यह कि मानव-जाति, मानव-नीति और स्वयं मानव-व्यक्ति राष्ट्र और राज्य और उनकी नीति के समक्ष अमत के समान बन जाते हैं और अधिकांश इन दोनों में विरोध ही ठन जाता है। इसीलिये अधिकतर महान् मानवप्रेमियों और आदर्शवादियों को शासन के हाथों शहीद बनना पड़ता है।

शहादत एक मूल्य है। सत्य का उद्घाटन उसी पद्धति से हुआ करता है। आज जिसको शहीद बनाया जाता है, कल उसी को पूजा जाता है। शहीद अपनी मृत्यु से लोगों के अन्तःकरण में एक जागृति छोड़ जाता है जो धीरे धीरे काम करती है और अन्त में अन्याय के शासन को उलट डालती है। क्रांतियों के इतिहास से स्पष्ट है कि शासन-सत्ता अपने आप में मूल्य नहीं है। बल्कि मूल्य की दिशा में उसमें परिवर्तन आया करता है। स्वयं मूल्यता, अर्थात् सोवरंटी, को स्टेट से तद्गत देखने में से इसीलिये अनायास मानव-मूल्यों की हानि होने लगती है।

सर्वोपरि मूल्य क्या है? क्या है जो 'सोवरेन' है और जिससे समस्त व्यवहार नियत होना चाहिए? यहाँ ईश्वर की बात करना वृथा है। वह तो अगम है और उस सम्बन्ध में विवाद का प्रश्न भी नहीं है। किन्तु मूल्य की पहचान सब में अन्तर्भूत है। उसकी व्याख्या में भेद पड़ सकता है, लेकिन अनुभूति सबमें समान है। जहाँ यह अनुभूति उपलब्ध और सुलभ होती है उस अन्तःकरण से ही हम मूल्य का निर्णय कर सकते हैं।

राज्य या राष्ट्र जैसी सत्ताएँ तन्त्र या समवाय की वाचक हैं।

निस्तर

किसी अन्तःकरण का बोध उनसे नही होता है। आत्मवान मनुष्य है वह स्वचालित है। उसी की सृजनशीलता म स जो श्रम और क्रम निकलता है उसमे से मस्कृति और सभ्यता की सृष्टि होती है।

इसलिये राज्य का विचार करते समय मानव व्यक्ति की इस अखण्डता और अभगता (इन्वायालेबिलिटी) क मूल्य का ध्यान रखना होगा। कुछ ऐसी व्यवस्था का निर्माण करना होगा जिसम व्यक्ति क भी र का स्नेह और सबब बीच का पारस्पय छिन्न भिन्न न हो, वल्कि पुष्ट और सयुक्त होता चला जाय।

ब्रह्माण्ड मे है वही पिण्ड म है। सत्य दो नही हैं। राष्ट्र और मानव भी दो नही है। राज्य की नीति के लिए अत मनुष्य को बुनियाद बनाया जा सकता है। मानवनीति क बारे म अब बहुत विभ्रम नही है। वह मनुष्य मूल से नीतिवान प्राणी ह पाप म जाते हुए भी वह अतःकरण की व्यथा से मुक्त नही हो पाता है। अनिवायत उसका जीवन मान नतिक होता ह। इस नतिकता को आधारशिला मानकर यदि हम अपनी अर्थ रचना समाज रचना राष्ट्र और राज्य रचना क सम्बन्ध म निर्देश प्राप्त करेंगे तो एक अविरोधी व्यवस्था का रूप हमारे सामने प्रकट हो सकेगा। और वही होगा जो ज्ञान विज्ञान के आज के विकास बिन्दु तक आने पर मानव-जाति की भवितव्यता को सहार और सभाल सकेगा। सार्वभौम 'सोवरेंटी' का माथ तब राज्य क पास

न होकर स्वयं नीति के नाम होगा और जिस शक्ति से काम हुआ करेगा वह विग्रह-संघर्ष जनित न होगा बल्कि वह हर स्तर पर स्निग्ध परस्परता का होगा। उस शक्ति का सत्त्व भौतिक से अधिक नैतिक होगा।

■■■

किसी अन्तःकरण का बोध उनसे नही होता है। आत्मवान मनुष्य है वह स्वचालित है। उसी की सृजनशीलता मे से जो श्रम और कर्म निकलता है उनमे से संस्कृति और सभ्यता की सृष्टि होती है।

इसलिए राज्य का विचार करते समय मानव व्यक्ति की इस अखण्डता और अभगता (इन्वायालेबिलिटी) के मूल्य का ध्यान रखना होगा। कुछ ऐसी व्यवस्था का निर्माण करना होगा जिसमे व्यक्ति के भीतर का स्नेह और सबके बीच का पारस्पर्य छिन्न भिन्न न हो, बल्कि पुष्ट और संयुक्त होता चला जाय।

ब्रह्माण्ड मे है वही पिण्ड मे है। सत्य दो नही हैं। राष्ट्र और मानव भी दो नही हैं। राज्य की नीति के लिए अतः मनुष्य को बुनियाद बनाया जा सकता है। मानवनीति के बारे मे भ्रम बहुत विभ्रम नही है। वह मनुष्य मूल से नीतिवान प्राणी है पाप मे जाते हुए भी वह अन्तःकरण की व्यथा से मुक्त नही हो पाता है। अनिवार्यतः उसका जीवन मान नतिक होता है। इस नैतिकता को आधारशिला मानकर यदि हम अपनी अर्थ रचना समाज रचना, राष्ट्र और राज्य रचना के सम्बन्ध मे निर्देश प्राप्त करेंगे तो एक अविरोधी व्यवस्था का रूप हमारे सामने प्रकट हो सकेगा। और वही होगा जो ज्ञान विज्ञान के आज के विकास बिंदु तक आने पर मानव-जाति की भवितव्यता को सहार और संभाल सकेगा। सार्वभौम 'सावरेंटी' का भाव तब राज्य के पास

न होकर स्वयं नीति के पास होगा और जिस शक्ति से काम हुआ करेगा वह विग्रह-संघर्ष जनित न होगी बल्कि वह हर स्तर पर स्निग्ध परस्परता की होगी। उस शक्ति का सत्व भौतिक से अधिक नैतिक होगा।



दिसंबर

किसी अन्तःकरण का बाध उनसे नही होता है। आत्मवान मनुष्य है वह स्वचालित है। उसी की सृजनशीलता म से नाना श्रम और कर्म निकलता है उनम से संस्कृति और सभ्यता की सृष्टि होती है।

इसलिए राज्य का विचार करते समय मानव व्यक्ति की इस अखण्डता और अभंगता (इन्वायालेबिलिटी) के मूल्य का ध्यान रखना होगा। कुछ ऐसी व्यवस्था का निर्माण करना होगा जिसम व्यक्ति के भीतर का स्नेह और सबके बीच का पारस्पय छिन्न भिन्न न हो, बल्कि पुष्ट और सयुक्त होता चला जाय।

ब्रह्माण्ड मे है वही पिण्ड म है। सत्य दो नही हैं। राष्ट्र और मानव भी दो नही हैं। राज्य की नीति के लिए अत मनुष्य को बुनियाद बनाया जा सकता है। मानवनीति के बारे मे अब बहुत विभ्रम नही है। वह मनुष्य मूल से नीतिवान प्राणी ह पाप म जाते हुए भी वह अन्तःकरण की व्यथा स मुक्त नही हो पाता है। अनिवार्यत उसका जीवन मान नतिय होता ह। इस नतिकता को आधारशिला मानकर यदि हम अपनी अर्थ रचना समाज रचना राष्ट्र और राज्य रचना के सम्बन्ध म निर्देश प्राप्त करेंगे तो एक अविरोधी व्यवस्था का रूप हमारे सामन प्रकट हो सकेगा। और वही होगा जो ज्ञान विज्ञान के आज के विकास बिन्दु तक आने पर मानव-जाति की भवितव्यता को सहार और सभाल सकेगा। सार्वभौम 'सावरन्टी' का भाव तब राज्य के पास

न होकर स्वयं नीति के पास होगा और जिस शक्ति से काम हुआ करेगा वह विग्रह-संघर्ष जनित न होगी बल्कि वह हर स्तर पर स्निग्ध परस्परता की होगी। उस शक्ति का सत्व शक्ति से अधिक नैतिक होगा।

न हारर स्यय नीति के पाम हागा और जिस शक्ति स काम हुआ करेगा वह विग्रह सघप जनित न हागी बल्कि वह हर स्तर पर स्निग्ध परस्परता की होगी। उम शक्ति का तत्व भौतिक म अधिक नैतिक हागा।

■■■